प्रेमचंद की प्रासंगिकता

अमृतराय

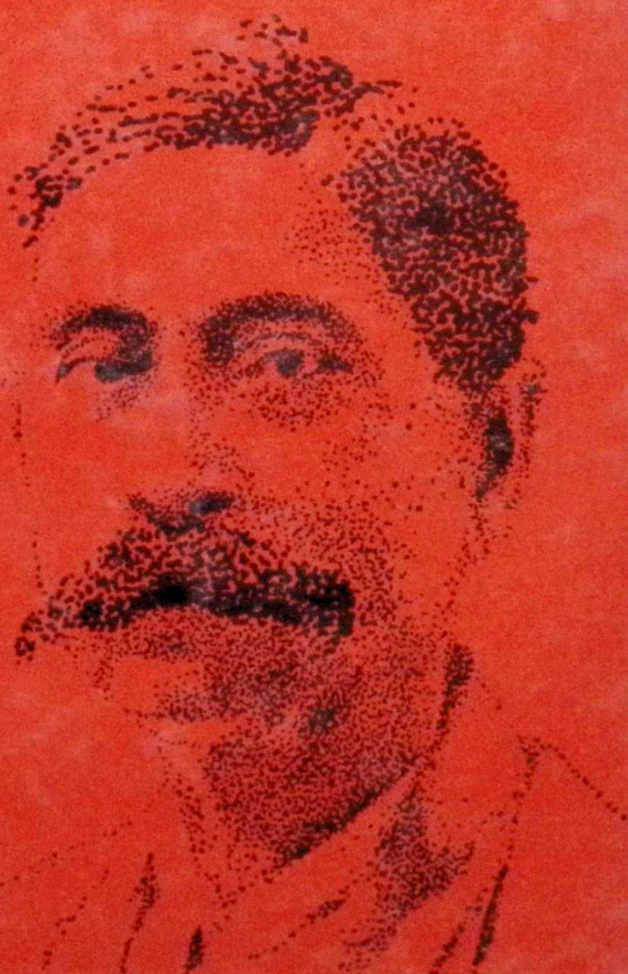

53003
9 प्रे

प्रेमचंद की प्रासंगिकता

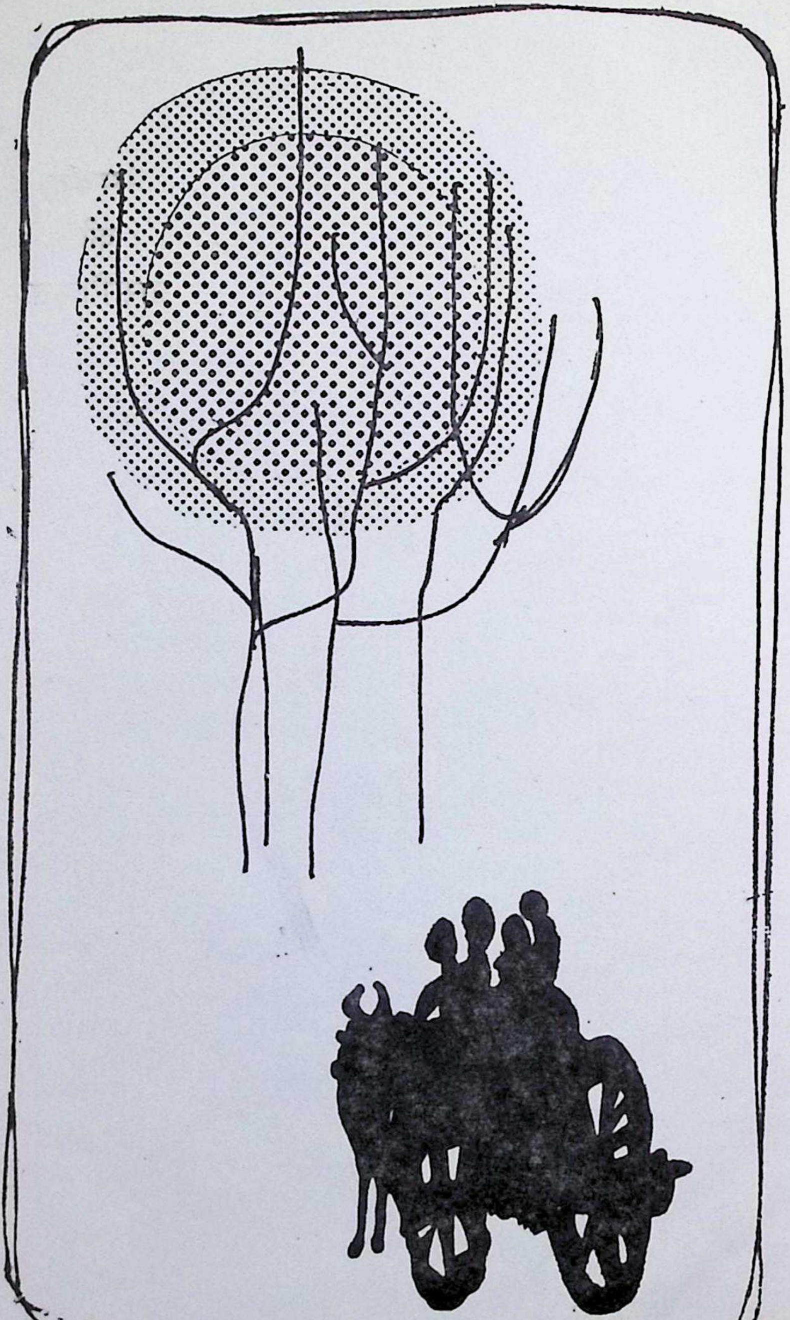

प्रेमचंद की प्रासंगिकता

अमृतराय

TS783005
2995

प्रकाशक
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद
मुद्रक
पियरलेस प्रिन्टर्स, इलाहाबाद
आवरण
इम्पैक्ट, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण, फ़रवरी १६८५
मूल्य, तीस रुपये

क्रम

१. प्रेमचंद की प्रासंगिकता ... ६

२. सृजन की भाषा ... ३६

३. साहित्यकार और प्रतिष्ठान ... ४७

४. साहित्य और राजनीति ... ६३

५. सामाजिक जीवन में पत्रकार की भूमिका ... ७३

६. प्रेमचंद की वैचारिक यात्रा ... ८२

७. प्रेमचंद की भारतीयता ... ६४

८. प्रेमचंद की रचना-प्रक्रिया और उनकी विरासत ... १०७

६. प्रेमचंद आज ... १३८

१०. कालजयी प्रेमचंद ... १६६

डा. डिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय
८९५५

प्रेमचंद
की
प्रासंगिकता

प्रेमचंद की प्रासंगिकता

पिछले दिनों जहाँ एक तरफ़ प्रेमचंद की जन्मशती देश-विदेश में अभूतपूर्व उत्साह के साथ मनायी जा रही थी, वहीं एक महीन-सी आवाज़ कुछ यह भी सुनने में आयी कि प्रेमचंद अब प्रासंगिक नहीं रहा, कि वह बासी पड़ चुका है, उसकी संवेदना आधुनिक नहीं है, उसका लेखन सीधा-सपाट और एक आयामी है, उसमें मनोवैज्ञानिक गहराई नहीं है, मानव चरित्र की वे जटिलताएँ नहीं हैं जो सच्चे अर्थों में आधुनिक लेखन की पहचान बन गयी हैं — और यह कि उन्हें अधिक से अधिक एक समाज-सुधारक या प्रचारक का लेखन कहा जा सकता है। कभी किसी ने अपने लेख में यह भी कहा कि कहानी के संबंध में प्रेमचंद की अवधारणा, कथावस्तु और शिल्प दोनों ही स्तरों पर, बासी-पुरानी है, कि वह बुनियादी तौर पर क़िस्सागो है, कथावाचक, जो कि अब एक बीते युग की कहानी हो गयी है : कहानियाँ अब कही नहीं जातीं, लिखी जाती हैं, जिस कारण ही आधुनिक कहानी ने प्रेमचंद को कहीं बहुत पीछे छोड़ दिया है — एक ओर तो अपने सूक्ष्म विश्लेषण में जिसका प्रेमचंद में सर्वथा अभाव है और दूसरी ओर यथार्थ की अपनी गहरी और सच्चे अर्थों में सर्जनात्मक पकड़ में।

अब, इस प्रसंग में पहली चीज़ तो लक्ष्य करने की ये है कि यह पहला मौक़ा नहीं है जब प्रेमचंद के विरुद्ध ऐसा एक प्रचार किया जा रहा है; कुछ थोड़े से लेखकों और बुद्धिजीवियों की एक मंडली प्रेमचंद के मरणोपरान्त इन चालीस-पैंतालीस वर्षों में समय-समय पर करती ही रही है। सच तो यह है कि प्रेमचंद को अपने जीवन-काल में भी इसका सामना करना पड़ा था। उनके लेखन में जो कितनी ही बार यह चुनौती-भरी घोषणा मिलती है कि सब कला प्रचार होती

है, कौन जाने वह अपने आलोचकों की तरफ़ फेंका गया उसका जवाब ही हो। उदाहरण के लिए, अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना करते हुए प्रेमचंद ने लखनऊ में ९ अप्रैल १९३६ को अपने उद्घाटन-भाषण में कहा था :

> नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है — केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुज़रती है, वही अनुभव और वही चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य-सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊंचे दर्जे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो — जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।
>
> पुराने ज़माने में समाज की लगाम मज़हब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था — पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।
>
> अब साहित्य ने यह काम अपने ज़िम्मे ले लिया है और उसका साधन सौन्दर्य-प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौन्दर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनु-

भूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौन्दर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिए कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है — चाहे वह व्यक्ति हो या समूह — उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तग़ासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।

इसी बात को आगे बढ़ाते हुए प्रेमचंद ने 'साहित्य का आधार' शीर्षक अपने निबंध में कहा था :

अगर हम किसानों में रहते हैं या हमें उनके साथ रहने के अवसर मिले हैं, तो स्वभावतः हम उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगते हैं और उससे उसी मात्रा में प्रभावित होते हैं जितनी हमारे भावों में गहराई है। ... अगर इसका अर्थ यह लगाया जाय कि अमुक प्राणी किसानों का, या मज़दूरों का, या किसी आन्दोलन का प्रोपागैंडा करता है, तो यह अन्याय है। साहित्य और प्रोपागैंडा में क्या अन्तर है, इसे यहाँ प्रकट कर देना ज़रूरी मालूम होता है। प्रोपागैंडे में अगर आत्म-विज्ञापन न भी हो तो एक विशेष उद्देश्य को पूरा करने की वह उत्सुकता होती है जो साधनों की परवा नहीं करती। ... वह रस-विहीन होने के कारण आनन्द की वस्तु नहीं। लेकिन यदि कोई चतुर कलाकार उसमें सौन्दर्य और रस भर सके, तो वह प्रोपागैंडा की चीज़ न होकर सद्-साहित्य की वस्तु बन जाती है। 'अंकिल टॉम्स केबिन' दास-प्रथा के विरुद्ध प्रोपागैंडा है, लेकिन कैसा प्रोपागैंडा है, जिसके एक-एक शब्द में रस भरा हुआ है! इसलिए वह प्रोपागैंडा

की चीज़ नहीं रहा। बर्नार्ड शॉ के ड्रामे, वेल्स के उपन्यास, गाल्सवर्दी के ड्रामे और उपन्यास, डिकेन्स, मेरी कारेली, रोमाँ रोलाँ, टाल्सटाय, दोस्तोवेस्की, मैक्सिम गोर्की, अप्टन सिंक्लेयर, कहाँ तक गिनायें। इन सभी की रचनाओं में प्रोपागैंडा और साहित्य का संमिश्रण है। जितना शुष्क विषय-प्रतिपादन है, वह प्रोपागैंडा है; जितनी सौन्दर्य की अनुभूति है, वह सच्चा साहित्य है। हम इसलिए किसी कलाकार से जवाब तलब नहीं कर सकते कि वह अमुक प्रसंग से ही क्यों अनुराग रखता है। यह उसकी रुचि या परिस्थितियों से पैदा हुई परवशता है। हमारे लिए तो उसकी परीक्षा की एक ही कसौटी है : वह हमें सत्य और सुन्दर के समीप ले जाता है या नहीं ? यदि ले जाता है तो वह साहित्य है, नहीं ले जाता तो प्रोपागैंडा या उससे भी निकृष्ट है।

जो हो, लेखक युग-युगान्तर से चले आते हुए इस विवाद के मूल में जो समस्या है, उसकी जटिलता से अपरिचित नहीं है :

> हम अकसर किसी लेखक की आलोचना करते समय अपनी रुचि से पराभूत हो जाते हैं। ओह, इस लेखक की रचनाएँ कौड़ी काम की नहीं, यह तो प्रोपागैंडिस्ट है, यह जो कुछ लिखता है, किसी उद्देश्य से लिखता है इसके यहाँ विचारों का दारिद्र है, इसकी रचनाओं में स्वानुभूत दर्शन नहीं, इत्यादि। हमें किसी लेखक के विषय में अपनी राय रखने का अधिकार है, इसी तरह औरों को भी है; लेकिन सद्-साहित्य की परख वही है जिसका हम उल्लेख कर आये हैं। उसके सिवा कोई दूसरी कसौटी हो ही नहीं सकती। लेखक का एक-एक शब्द दर्शन में डूबा हो, एक-एक वाक्य में विचार भरे हों, लेकिन उसे हम उस वक़्त तक सद्साहित्य नहीं कह सकते जब तक उसमें रस का स्रोत न बहता हो, उसमें भावों का उत्कर्ष न हो, वह हमें सत्य की

ओर न ले जाता हो ... जिस तरह किसी आन्दोलन या किसी सामाजिक अत्याचार के पक्ष या विपक्ष में लिखा गया रसहीन साहित्य प्रोपागैंडा है; उसी तरह किसी तात्विक विचार या अनुभूति-शून्य दर्शन से भरी हुई रचना भी प्रोपागैंडा है। साहित्य जहाँ रसों से पृथक् हुआ, वहीं वह साहित्य के पद से गिर जाता है और प्रोपागैंडा के क्षेत्र में जा पहुँचता है। ... इसके साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि बहुधा एक लेखक की क़लम से जो चीज़ प्रोपागैंडा होकर निकलती है, वही दूसरे लेखक की क़लम से सद्-साहित्य बन जाती है। बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व पर मुनहसर है। हम जो कुछ लिखते हैं, यदि उसमें रहते भी हैं तो हमारा शुष्क विचार भी अपने अन्दर आत्म-प्रकाश का सन्देश रखता है और पाठक को उसमें आनन्द की प्राप्ति होती है।

जिस दृढ़ता से यह लेखक अपने विचारों को पकड़ता था और स्वयं अपने लेखन में उनका पालन करता था, ऐसा लगता है कि उसी के कारण उसे आलोचकों की एक मंडली का कोपभाजन बनना पड़ता था जो किसी भी कारण से साहित्य के प्रति एक चिराचरित अभिजातवर्गीय दृष्टि रखते थे और जनसाधारण के साथ साहित्य के एकात्मबोध को नहीं पसंद करते थे। लेखक के अपने युग में कदाचित् ऐसी ही बात थी। वर्तमान युग में इस मंडली की पहचान और भी आसान हो गयी है, इस अर्थ में कि ये साहित्य में व्यक्तिवाद के समर्थक लोग हैं जिन्हें अपनी कुलीनता का बड़ा अभिमान होता है और जो साहित्य को एक नितान्त दीक्षागम्य व्यापार समझते हैं, जिसके अधिकारी अपने ही जैसे कुछ कुलीन अभिजातवर्गीय लोग होते हैं और जिसके क्षेत्र में जनसाधारण का प्रवेश वर्जित है! इन लेखकों और बुद्धिजीवियों को साधारण व्यक्ति के नाम से घिन मालूम होती है — उजड्ड गँवार, वह भला उस दुनिया में कैसे रह सकता है जिसमें वह खुद रहते हैं! इसलिए उससे दूर रहना, उसको अपने से दूर रखना ही ठीक है; वह इस दुनिया का आदमी ही नहीं, उसके

पास वह सुकुमार संवेदना ही नहीं जो हम दोनों के बीच संपर्क का सूत्र बन सके ! फिर भला बताइए, कैसे कोई अपनी बात उस आदमी तक पहुँचाये ? और ज़रूरत भी क्या है इसकी ?

हो जिसे हो, प्रेमचंद के मन में ऐसी कोई ग्रंथि नहीं थी। वह उन्हीं साधारण जनों में से एक था और उन्हीं का होकर उनकी बात लिखता था। उसके मन में ऐसा कोई नकचढ़ा भय नहीं था कि ये जनसाधारण ऐसे फूहड़, गँवार, असंस्कृत होते हैं कि उसको समझ ही नहीं सकते, सही माने में रसास्वादन कर सकना तो दूर की बात है।

एक और बात जिसके कारण लेखकों की मंडली में प्रेमचंद के ये आलोचक कुपित हुए लगते हैं शायद ये है कि जनसाधारण से प्रेमचंद के इस गहरे संबंध ने उसके लेखन को कमज़ोर करने के बदले और भी ताक़त दी, और भी समृद्ध बनाया। इतना ही नहीं, प्रेमचंद की लेखकीय प्रतिमा उत्तरोत्तर विशाल से विशालतर होती गयी, जो एक ऐसी बड़ी सच्चाई है जिससे कोई आँख चुराना भी चाहे तो नहीं चुरा सकता।

यह विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि प्रेमचंद की यह लोकप्रियता निरंतर बढ़ती ही गयी है और आज भी कहीं कोई उतार देखने में नहीं आता। उसको घटिया 'लोकप्रिय' साहित्य की लोकप्रियता जैसी कुछ चीज़ बताकर भी नहीं टाला जा सकता — वह गंभीर साहित्यानुरागी पाठकों के बीच उसकी लोकप्रियता है। उसके देहान्त को अब पचास वर्ष पूरे होने आते हैं लेकिन सद्साहित्य के प्रेमी पाठकों के बीच उसकी लोकप्रियता घटने की तो बात अलग रही, आज भी किसी सार्वजनिक पुस्तकालय में शायद उसी की किताबें सबसे ज़्यादा पाठकों के बीच घूमती हैं, इतनी कि एक ही पुस्तक की कई-कई प्रतियाँ मँगाकर रखना ज़रूरी हो जाता है। कुछ उत्साही हिन्दी-प्रेमियों ने समय-समय पर इसके आँकड़े भी बटोरे हैं। उन्हीं की रोशनी में यह बात कही जा रही है। तो फिर सवाल यह पैदा होता है कि जो लेखक आज भी इतना जीवंत और लोकप्रिय है, उसकी प्रासंगिकता पर क्योंकर प्रश्न-चिह्न लगाया जा

सकता है ? इसका एक 'उत्तर' तो यह दिया जा सकता है कि लोकप्रियता और प्रासंगिकता दो बिलकुल अलग चीज़ें हैं, दोनों को गडमड करना ठीक नहीं। बिलकुल ठीक बात है, लोकप्रियता और प्रासंगिकता दो अलग चीज़ें हैं लेकिन जहाँ प्रेमचंद का साहित्य फ़ुटपाथों और रेलवे बुकस्टालों पर बिकनेवाले हत्या और बलात्कार और भूत-प्रेत और जादू-टोने और इसी तरह के मिर्च-मसाले से भरे हुए 'लोकप्रिय' साहित्य से बिलकुल अलग चीज़ हो, जिसके लिए कोई प्रमाण जुटाने की भी ज़रूरत नहीं, वहाँ फिर प्रेमचंद की लोकप्रियता को भी कुछ दूसरे ही रूप में देखना होगा।

अच्छा, अगर ये बात नहीं है तो क्या प्रेमचंद की लोकप्रियता इसलिए है कि वह एक क्लासिक बन गया है ? ये बात भी कुछ ख़ास समझ में नहीं आती, क्योंकि क्लासिक तो बहुत तरह के होते हैं; बहुत से तो मुर्दा तरह के क्लासिक भी होते हैं उनमें—हम उनका बड़ा आदर करते हैं, किसी-किसी की पूजा भी करते हैं, शोधार्थी उन पर शोध करते हैं, मगर उस तरह पढ़ते नहीं जैसे प्रेमचंद को पढ़ा जाता है। जीवंत क्लासिक ही जनसाधारण के बीच लगातार पढ़े जाते रहते हैं। प्रेमचंद शायद उसी तरह का एक जीवंत क्लासिक है। प्रेमचंद आज भी पढ़ा जाता है क्योंकि वह आज भी उतना ही ज़िन्दा है जितना कभी था।

सोचने की बात है कि संसार के अनेकानेक देशों और हिन्दुस्तान के प्रायः सभी भाषा-समूहों के बीच प्रेमचंद की जन्मशती का समारोह जिस असाधारण और अभूतपूर्व उत्साह से आयोजित किया गया, वह क्या सिर्फ़ इसलिए कि हम सभी को धुँधला-धुँधला सा कुछ पता है कि प्रेमचंद हिन्दुस्तान का एक बड़ा लेखक है ? या इससे ज़्यादा कुछ ? हाँ, बात शायद इससे कुछ ज्यादा है, और वह ये कि प्रेमचंद आज भी हमारे युग के लिए प्रासंगिक है। और उसकी इस प्रासंगिकता का कारण भी बहुत सीधा सा है : जिस हिन्दुस्तान की तसवीर प्रेमचंद ने खींची है वह, कुछ ऊपरी साज-सिंगार को छोड़कर, बुनियादी तौर पर आज भी वही है। 'कफ़न' और 'पूस की रात' जैसी कहानियों में किसान की ग़रीबी और बद-

हाली की जैसी भयानक, हिला देनेवाली तसवीर मिलती है, वह अब भी वही है। गाँव में किसान के पैशाचिक शोषण का वह तंत्र—जिसमें ज़मीन्दार था, महाजन था, गाँव का पटवारी था, जमीन्दार का कारिन्दा था, ब्राह्मण देवता थे, क़ानूनगो और दूसरे छोटे-मोटे सरकारी अमले थे—जिसकी जीती-जागती तसवीर हमें दर्जनों कहानियों में मिलती है, 'गोदान' में मिलती है, उसके पहले 'प्रेमाश्रम' में मिलती हैं (जिसे प्रेमचंद ने गांधीवादी हृदय-परिवर्तन की टोपी पहनाकर ख़राब कर दिया है) वह सब आज भी तो बहुत कुछ वैसे का वैसा ही मिलता है, इसके सिवा कि जमीन्दार की जगह आधुनिक उपकरणों से खेती करनेवाले नये बड़े किसान ने ले ली है, जिसके साथ ही ज़मीन के मालिक और खेतिहर मज़दूर के बीच के संबंध का रहा-सहा निजीपन भी मिट गया है और सारे संबंध उन उपकरणों के समान ही यांत्रिक हो गये हैं।

छोटे किसान का निरंतर ग़रीब से और ग़रीब होते जाना और अंततः एक दिन अपनी ज़मीन से हाथ धोकर अपने पास के शहर या फिर कलकत्ता-बम्बई-कानपुर-अहमदाबाद का रास्ता पकड़ने पर मजबूर होना जहाँ वह किसी के घर में नौकरी करके या रिक्शा चलाकर या किसी कारख़ाने में काम करके अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट पाल सके, यह हमारी नित्य की कहानी है, जो प्रेमचंद ने अपनी एक बहुत ही सुंदर मगर कम प्रसिद्ध कहानी बलिदान' में कही है, जिसकी व्यंजना इस बात से और भी बहुत बढ़ जाती है कि इसमें कहानी का नायक वह छोटा किसान, शहर में मर जाने के बाद अपनी छूटी हुई ज़मीन के प्रति अपने मोह के कारण भूत बनकर वहीं पर मंडराता रहता है! क्या आज भी स्थिति बहुत कुछ वैसी ही नहीं है?

'वरदान' उपन्यास में विरजन साधारण गाँववालों के मन पर साँप की तरह कुंडली मारकर बैठे हुए जिन अंधविश्वासों और जादू-टोने आदि की बात करती है क्या वह सब आज भी उसी तरह नहीं जमे बैठे हैं? मेरे देखने में तो वह बीमारी शायद कुछ और बढ़ ही गयी है!

चढ़ी जवानी में लड़की विधवा हो जाती है, सामाजिक विधान इसकी अनुमति नहीं देते कि माँ-बाप उसका दुबारा विवाह कर दें। फलतः वह सारी उम्र उसी तरह विधवा का लुटा-पिटा जीवन बिताने के लिए मजबूर है। फिर इस स्थिति में से नयी-नयी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं—एक ओर उसके जीवन-यापन, भरण-पोषण की समस्या और दूसरी ओर उसके जवान शरीर की भूख की समस्या। प्रेमचंद ने अपने उपन्यास 'प्रतिज्ञा' में उसी की तो कहानी कही है। क्या उस सामाजिक स्थिति में भी कहीं कोई बदलाव आया है ? ज़रा पता तो लगाइए, आज भी कितनी विधवाओं का दूसरा विवाह होता है।

'निर्मला', जैसा कि हम सभी जानते हैं, अनमेल विवाह की कहानी है। जवान लड़की की शादी बुड्ढे आदमी के साथ कर दी जाती है, क्योंकि जवान लड़का बाज़ार में बहुत महँगा मिलता है और बाप की गाँठ में उतना पैसा नहीं है ! क्या आज भी ऐसी शादियाँ नहीं होतीं ? दहेज की समस्या ने आज और भी जैसा विकराल रूप धारण कर लिया है, पता नहीं और भी क्या-क्या अनाचार न हो रहा होगा, यह तो उस जगल में घुसने पर ही पता चल सकता है !

सामाजिक कुरीतियों और क्रूरतम अन्याय की शिकार हज़ारों-लाखों जवान लड़कियाँ, 'सेवासदन' की सुमन की तरह, आज भी चकलों में पहुँच रही हैं, बल्कि आज तो शायद उनकी संख्या और भी बहुत बढ़ी हुई है।

'रंगभूमि' की केन्द्रीय कथा उस अविस्मरणीय अहिंसक संग्राम को लेकर है जो अंधा भिखारी सूरदास पूँजीपति जॉन सेवक के विरुद्ध लड़ता है जो उसको उसकी ज़मीन से बेदख़ल करके वहाँ पर अपना सिगरेट का कारख़ाना बैठाना चाहते हैं। सूरदास अपना सब कुछ दाँव पर लगाकर यह लड़ाई लड़ता है क्योंकि उसका विश्वास है कि वहाँ पर सिगरेट के कारखाने का बैठना अनेक दृष्टियों से बिलकुल घातक होगा। विचार करके देखने पर, सूरदास की यह आशंका तब से भी अधिक जीवंत रूप में आज हमारी आँखों के

आगे उजागर हो रही है जब कि यह पूंजीवादी औद्योगीकरण आज हमारे बीच सब तरफ़ एक भयंकर रूप में विस्फोटित हो रहा है जिससे हमारी अब तक की जीवन-प्रणाली और कितने ही श्रेष्ठ, रक्षणीय, जीवन-मूल्य हमारे देखते-देखते ध्वस्त हुए जा रहे हैं और उनके स्थान पर नया कुछ बनकर नहीं मिल रहा है। यह विध्वंस-लीला इतनी अधिक डरावनी है कि भारतीय समाज-शास्त्रियों को बाध्य होकर फिर-फिर सोचना पड़ रहा है कि औद्योगीकरण का क्या यही अकेला ढंग है या कोई दूसरा सचमुच में लोकहितकारी या कम विनाशकारी ढंग भी है।

कायाकल्प' की केन्द्रीय विषय-वस्तु राजनीतिक सत्ता की भूख है। लक्ष्य करने की बात है कि यह उपन्यास १९२६ में लिखा गया था जब कि कांग्रेस कौंसिल-प्रवेश के प्रश्न पर बहस कर रही थी। उसकी कथा-योजना ऐसी भ्रामक है कि 'कायाकल्प' को अकसर पुनर्जन्म की कहानी समझ लिया जाता रहा है; पर मुझे लगता है कि वह उस पुनर्जन्म और आत्मा के कायाकल्प की कहानी नहीं है बल्कि उस दूसरे कायाकल्प की जो सत्ता हाथ में आते ही टुच्चे, महत्वाकांक्षी, लोभी, स्वार्थी राजनीतिज्ञों का हो जाता है। इसके कुछ संकेत भी यत्र-तत्र मिलते हैं। इस संदर्भ में यह एक टीपन देखिए जो प्रेमचंद ने 'कायाकल्प' लिखते समय, उससे सम्बद्ध और भी कुछ बातों के साथ-साथ, अपनी डायरी में अंग्रेजी में टाँक ली थी—

> आजमाइशें, मुसीबतें आदमी का चरित्र बनाती हैं। उन्हीं से आदमी में साहस आता है, दृढ़ता आती है, वह महान् बनता है।
>
> सत्ता, प्रभुता, मानवता का अभिशाप है। अच्छे से अच्छे लोग भी उसके शिकार हो जाते हैं, उनके चरित्र का नाश हो जाता है।
>
> जीवन के लिए संघर्ष करते हुए चक्रधर का नैतिक उत्थान हुआ। प्रभुता पाते ही उसका पतन शुरू हुआ।

शायद यही वह असल कायाकल्प है जिसकी ओर कथाकार अपने पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहता है। चक्रधर का कायाकल्प, विशालसिंह का कायाकल्प, मानसिक कायाकल्प ...

वही चक्रधर जो जनता का जाना-माना सेवक है, जनता जिसके इशारों पर नाचती है, अपने बेटे के राजकुमार बनने पर, एक बिना बात की बात पर धन्नासिंह के भाई को मार डालता है। पीछे उसकी भी आँख खुलती है :

> आज उन्हें अनुभव हुआ कि रियासत की बू कितने गुप्त और अलक्षित रूप से उनमें समाती जाती है, कितने गुप्त और अलक्षित रूप से उनकी मनुष्यता, चरित्र और सिद्धान्त का ह्रास हो रहा है।

और फिर इस एक टुकड़े को देखिए :

> बाहर आकर चक्रधर ने राजभवन की ओर देखा। असंख्य खिड़कियों और दरीचों से बिजली का दिव्य प्रकाश दिखायी दे रहा था। उन्हें वह दिव्य भवन सहस्र नेत्रोंवाले पिशाच की भाँति जान पड़ा जिसने उनका सर्वनाश कर दिया था। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि वह मेरी ओर देखकर हँस रहा है और कह रहा है, क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे चले जाने से यहाँ किसी को दुःख होगा ? इसकी चिन्ता न करो; यहाँ यही बहार रहेगी, यों ही चैन की बंसी बजेगी, तुम्हारे लिए कोई दो बूँद आँसू भी न बहायेगा। जो लोग मेरे आश्रय में आते हैं, उनका मैं कायाकल्प कर देता हूँ, उनको महानिद्रा की गोद में सुला देता हूँ।

धन और प्रभुता के मद से मनुष्य का जो कायाकल्प होता है उसी की यह कहानी है। और यह एक ऐसी कहानी है जिससे देश का बच्चा-बच्चा परिचित है और जैसा परिचित आज है वैसा शायद कभी नहीं था।

'ग़बन' अगर एक तरफ़, उसके नायक रमानाथ के प्रसंग में,

अपनी मध्यवित्तीय आर्थिक स्थिति को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की, प्रदर्शनप्रियता की, कहानी है — अपनी जिस प्रवृत्ति के ही कारण वह सरकारी अमानत में कुछ आँचा-पाँचा करता है और फिर ग़बन के इल्ज़ाम में घर से भाग खड़ा होता है और यहाँ-वहाँ सबसे मुंह चुराये फिरता है — तो उपन्यास की नायिका जालपा के प्रसंग में नारी के आभूषण-प्रेम की कहानी है। शायद यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ आज भी कम से कम उतनी प्रासंगिक तो हैं ही जितनी कभी थीं।

घूसख़ोरी हमारी रोज़मर्रा ज़िन्दगी का आज जैसे एक हिस्सा हो गयी है, वैसे तो शायद पहले भी कभी नहीं थी, और यहाँ-वहाँ कुछ गिने-चुने लोग उसके इन्द्रजाल से बचकर निकलते भी दिखायी पड़ते हैं, जिससे मन में एक फुरहरी-सी होती है, नयी आशा का संचार होता है। फिर 'नमक का दारोगा' जैसी कहानी की प्रासंगिकता में क्या संदेह है।

प्रेमचंद ने अपने प्रथम उपन्यास 'असरारे मआबिद उर्फ़ देवस्थान-रहस्य' में, जो सन् १९०३ में धारावाहिक प्रकाशित होना शुरू हुआ था, एक महंत की दारू और दारा में डूबी हुई जैसी भोग-विलास की ज़िन्दगी का ख़ाका पेश किया है वह आज शायद पहले से भी कहीं ज़्यादा नंगे रूप में हमारे बीच मौजूद है और उन रंगरेलियों के क़िस्से आये दिन अख़बारों में छपते रहते हैं, फिर उस उपन्यास की प्रासंगिकता में सन्देह कहाँ।

उदाहरण तो और भी ढेरों गिनाये जा सकते हैं क्योंकि प्रेमचंद सचेत, प्रतिबद्ध लेखक है जिसने अपने देश-काल के संबंध में गहरी सूझबूझ से लिखा है, और अगर यह कहना ठीक है कि हमारा सामाजिक परिदृश्य आज भी लगभग वही है जो उसके समय में था, तो यह बेखटके कहा जा सकता है कि उसकी प्रासंगिकता अभी जल्दी समाप्त होने वाली नहीं है। इतना ही नहीं, जब किसी दिन इन सामाजिक समस्याओं का समाधान हो भी जायगा, और भगवान् करे वह दिन जल्दी ही देखने को मिले, तब भी प्रेमचंद प्रासंगिक रहेगा क्योंकि उसने सीधे-सीधे ज़िन्दगी से उठायी गयी केन्द्रीय समस्याओं पर

बड़ी अन्तर्दृष्टि के साथ जीते-जागते रक्त-मांस के लोगों और उनकी सहज मानवीय प्रतिक्रियाओं, आशाओं-आकांक्षाओं और सुख-दुख के बारे में लिखा है — और जब लेखक को यह भूमि मिल जाती है तब वह किसी दिन बासी नहीं पड़ता। हाँ, बात कुछ बदलती ज़रूर है और वह बदलती इसी अर्थ में है कि एक युग किसी लेखक की किन्हीं रचनाओं से जुड़ता है और दूसरा युग किन्हीं दूसरी रचनाओं से, या उन्हीं रचनाओं के किसी दूसरे स्तर से क्योंकि महत् लेखन की यह भी एक पहचान है कि वह बहुस्तरीय होता है, कि जैसे परत-दर-परत उसमें बहुत से अर्थ छिपे पड़े हों, जभी तो यह देखने में आता है कि एक पाठक किसी रचना में कुछ देखता है और दूसरा पाठक कुछ और।

यह तो रही प्रेमचंद-साहित्य की विषय-वस्तु की चर्चा, अब आइए कुछ उसके रूप की बात करें। कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि प्रेमचंद की कहानी बासी पड़ गयी है क्योंकि उसका आधार क़िस्सागोई है। प्रेमचंद की कहानियों के संबंध में पहली बात तो यह निवेद्य है कि उसका विस्तार जितना बड़ा है उसका फलक उतना ही विराट् और वैविध्यपूर्ण। तीस बरस के लेखन-काल में फैली हुई उसकी कहानियाँ बहुत तरह की हैं। उनमें 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' जैसी प्रश्नोत्तर के कलेवर में नैतिक शिक्षा देनेवाली कहानी है, पुराने तिलिस्मी ढंग के क़िस्सों की परंपरा में लिखी गयी 'शिकारी राजकुमार' जैसी कहानी भी है जिसमें उन्हीं क़िस्सों के रंग में एक शहज़ादा है, एक शहज़ादी है, साधू हैं, योगी हैं और बहुत सा तिलिस्मी अलौकिक व्यापार भी, जैसे कि यहाँ इस कहानी में एक शेर सहसा एक आदमी बन जाता है। मगर यहाँ दो बातें लक्ष्य करने की हैं — एक तो यह कि ऐसी कहानियाँ बहुत कम हैं और दूसरी यह कि उनके उस पुराने ढाँचे को अलग रखकर देखिए तो बात जो उनमें कही जाती है वह समसामयिक जीवन-यथार्थ से जुड़ी हुई बल्कि उसी में से निकली हुई होती है, जो उस कहानी का रंग ही बदल देती है। ताहम इसमें शक नहीं कि ये कुछ कहानियाँ ज़रूर बासी पड़ेंगी बल्कि शायद पड़ भी गयीं। मगर अधिकांश कहानियाँ तो दैनंदिन जीवन की सीधी-सादी

कहानियाँ हैं जो उतने ही सीधे-सादे ढंग से कही भी गयी हैं। लेकिन अपनी उस सादगी में भी वो बड़ी रंगारंग कहानियाँ हैं क्योंकि ज़िन्दगी खुद जो इतनी रंगारंग चीज़ है। उनमें कुछ कहानियाँ हैं जिनके पीछे बहुत घना बुना हुआ कथानक का जाल मिलता है और जिनका कथा-तत्व बहुत सबल है, घटनाओं में से घटनाएँ फूटती चली आती हैं, और कुछ हैं जो काफ़ी इकहरी-सी कहानियाँ हैं, जिनका कथानक काफ़ी विरल है। लेकिन जहाँ यह कथानक विरल है वहाँ भी बुनियादी कथा-तत्व तो है ही; जहाँ कथानक नहीं है वहाँ पर चरित्र है और जहाँ पर ये दोनों नहीं हैं वहाँ इस लीलामय मानव जीवन पर कथाकार की अपनी कुछ चुभती हुई टिप्पणी है जो सादे से सादे तरीक़े से, नाम मात्र की कहानी का सहारा लेकर कह दी गयी है, जैसे 'कश्मीरी सेब' और 'मनोवृत्ति' जैसी कहानियों में। इसलिए कहानी में कहानी-तत्व को लेकर प्रेमचंद से झगड़ा करना व्यर्थ है क्योंकि एक तो उसके पास सब तरह की कहानियाँ हैं और दूसरे वह हमेशा पलटकर कह सकता है कि ऐसी कहानी लिखने से क्या लाभ जिसमें कथारस एक सिरे से न हो, और तीसरे इसलिए कि जहाँ नये कहानीकार को पाठक न मिलने का दर्द है वहाँ आज देहान्त के पचास बरस बाद भी हिन्दी में प्रेमचंद की कहानियाँ ही सबसे ज़्यादा पढ़ी जाती हैं। अगर आप ऐसी कहानी ही लिखना चाहते हैं जिसमें कहीं कोई कहानी नहीं तब फिर आपको किस हकीम ने बताया है कि आप कहानी ही लिखिए, दूसरा कुछ लिखिए!

और सच तो ये है कि जब हम और गहरे उतरकर प्रेमचंद की कहानी में कथानक की विरलता और सघनता के प्रश्न पर विचार करते हैं तब हम यह पाते हैं कि उसकी सबसे अच्छी कहानियाँ वो हैं जिसमें कथानक काफ़ी विरल है पर इस विरल कथा-तत्व के बावजूद जो चीज़ रचना को और पाठक को बाँधे रखती है वह उसकी आन्तरिक गतिमयता है। और उसके साथ ही एक न एक मनोवैज्ञानिक सत्य, और कथानक विशेष न रहते हुए भी कथारस, जो बात के कहने में से निकलता है। इसको ध्यान में रखते हुए जब हम 'पूस की रात', 'कफ़न', 'सद्गति', 'सवा सेर गेहूँ', 'बड़े भाई साहब', 'मुफ़्त का यश'

जैसी कहानियों पर विचार करते हैं तब बात साफ़ हो जाती है।

यही प्रेमचंद की कहानी का जादू है और नये कहानीकार अगर उसकी कहानी के इस कथारस पर नाक-भौं सिकोड़ने के बजाय उससे कुछ सीख सकें तो उन्हीं के लिए अच्छा होगा।

संक्षेप में, प्रेमचंद की इस लोकप्रियता के पीछे काम करनेवाला उसका सबसे बड़ा गुण ये है कि वह जन-जीवन से गहराई के साथ जुड़ा हुआ है, और जिस अर्थ में यह एक सजीव संबंध है उसी अर्थ में वह एक गतिशील संबंध भी है। प्रेमचंद की यही गतिशीलता उसे आज भी हमारे लिए प्रासंगिक बनाये हुए है। उसकी इस गतिशीलता का ही यह एक प्रमाण है कि वह एक अधिक सुंदर, अधिक मानवीय और अधिक शान्तिपूर्ण जीवन-स्थितियों के लिए किये गये संग्राम में अपने देश की प्रगतिकामी जनता के साथ आजीवन चलता रहा — और साथ ही नहीं, साथ भी और एक क़दम आगे भी जैसे कि हरावल को चलना चाहिए। यही प्रेमचंद की वैचारिक यात्रा का सबसे असाधारण और रोमांचकर पक्ष है — असाधारण इस अर्थ में कि अक्सर बिलकुल उल्टी ही बात देखने में आती है, लेखक अपने ही वैचारिक घेरों का बन्दी हो जाता है। और वही उसकी मौत की शुरुआत होती है। इस आदमी के साथ लगता है ऐसा कुछ नहीं हुआ।

जहाँ तक हमें पता है, नये भारतवर्ष के निर्माण की दिशा में उसके विचारों की यात्रा बंग-भंग के विरुद्ध बंगाली जनता के स्वदेशी आन्दोलन के प्रति गहरे आकर्षण से शुरू होती है — जिसे ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने बंगाल का आतंकवादी आन्दोलन कहकर प्रचारित किया वह इसी स्वदेशी आन्दोलन में से फूटनेवाली एक और प्रवृत्ति थी। देश को सबसे पहले स्वाधीन होना था, स्वदेशी का आन्दोलन उसी की दिशा में एक प्रयास था — जहाँ तक समाज-सुधार की बात है, वह सब बाद की चिन्ताएँ हैं। इसलिए जो भी व्यक्ति या आन्दोलन स्वाधीनता के लिए, जिन भी हिंसक-अहिंसक साधनों से, संघर्ष कर रहा था, प्रेमचंद उसके साथ था। यह एक प्रतीकात्मक-सी ही बात थी, तथापि लक्ष्य करने योग्य, कि जब चौदह बरस

के लड़के खुदीराम बोस को एक विशेष रूप से घृणित अंग्रेज़ अफ़सर की हत्या के प्रयत्न के अभियोग में फाँसी दी गयी तब प्रेमचंद नाम के इस आदमी ने सरकारी नौकरी में रहते हुए इस लड़के की तसवीर लाकर अपने घर की दीवार पर टाँगने का जोखिम उठाया। इन नौजवान क्रान्तिकारियों के संग उसकी गहरी सहानुभूति उसके उस समय के लेखन में भी देखी जा सकती है, जैसे 'सोज़े वतन' की कहानियों में, स्वदेशी आन्दोलन पर उसके कुछ लेखों और टिप्पणियों में और गैरीबाल्डी और मैत्सीनी जैसे इतालवी क्रान्तिकारियों (जो भारतीय क्रान्तिकारियों के भी आदर्श थे) की छोटी-छोटी जीवनियों में।

लेकिन सशस्त्र क्रान्ति का यह प्रयास जन-चेतना और जन-आन्दोलन की ओर न उन्मुख होकर केवल व्यक्ति की वीरता और आत्म बलिदान पर आधारित था, इसलिए देश की स्वाधीनता का समग्र आन्दोलन बनने की संभावना उसमें न थी या उतनी न थी। शायद इसी कारण से उस प्रकार के विराट्, समग्र जन-आन्दोलन के लिए प्रेमचंद को अन्य दिशाओं में नज़र दौड़ानी पड़ी होगी। यह चीज़ उन्हें कांग्रेस के गरम दल, लाल-बाल-पाल (लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक और बिपिनचंद्र पाल) की राजनीति में मिली होगी। इन तीनों में सबसे प्रमुख, बाल गंगाधर तिलक को अंग्रेज़ों ने १९०८ में गिरफ़्तार करके माण्डले भेज दिया था जिससे गरम दल बहुत कमज़ोर पड़ गया था। और परिणामतः कांग्रेस का नेतृत्व गोखले और एनी बेसेण्ट के नरम दल के हाथ में आ गया। उसका नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस का स्वाधीनता आन्दोलन अंग्रेज़ शहंशाह के यहाँ अर्ज़ियाँ भेज-भेजकर होमरूल की भीख माँगने तक सीमित रह गया। प्रेमचंद नाम का यह स्कूल का मुदर्रिस बहुत-सी बातों में गोखले का बड़ा प्रशंसक था मगर उनकी राजनीति उसकी समझ में न आती थी। उसका नेता तो तिलक था मगर तिलक का अब कहीं पता न था, वह तो माण्डले की जेल में पड़ा सड़ रहा था।

देश का स्वाधीनता आन्दोलन जब अपने इस भयंकर उतार के

दौर से गुज़र रहा था, तभी प्रेमचंद का ध्यान समाज-सुधार की ओर गया। समाज-सुधार की दिशा में आर्य समाज और रानाडे की सोशल रिफ़ॉर्म्स लीग की क्रियाशीलता प्रेमचंद को अच्छी लगी और वह उनकी ओर झुका—इसलिए और भी कि समाज-सुधार आरम्भ से ही उसके सर्जनात्मक व्यक्तित्व का एक अविभाज्य अंग था, जैसा कि उसके पहले उपन्यास 'असरारे मआबिद उर्फ़ देवस्थान-रहस्य' और दूसरे उपन्यास 'हमखुर्मा ओ हमसवाब' अर्थात् 'प्रेमा' से प्रकट है। अपने मूल उर्दू रूप में यह उपन्यास १९०४ में और हिन्दी रूप में १९०७ में प्रकाशित हुआ था। हम सभी जानते हैं कि यह उपन्यास विधवा-विवाह की समस्या को लेकर है। आर्य समाज भी इसके संबंध में आन्दोलन कर रहा था, इस नाते आर्य समाज का प्रभाव भी यहाँ देखा जा सकता है मगर सच पूछिए तो इसके पीछे किसी का प्रभाव देखना ज़रूरी नहीं है क्योंकि यह तो रचनाकार के अपने समाज का एक ज्वलंत प्रश्न था और किसी भी सजग लेखक का उससे प्रभावित होना स्वाभाविक था। आर्य समाज के साथ प्रेमचंद के लगाव का अकेला प्रमाण जो मिलता है वह सन् १९०८ का है जब कि वह हमीरपुर में थे। जो हो, एक बात जो इस संदर्भ में बहुत उजागर होकर हमारे सामने आती है वह ये है कि प्रेमचंद जहाँ एक ओर आर्य समाज की उन गतिविधियों के समर्थक थे जिनका संबंध हिन्दू समाज के सुधार से था वहाँ दूसरी ओर आर्य समाज के मुस्लिम-विद्वेषपरक कार्यकलाप से उनका आमूल विरोध था, भले वह किसी भी रूप में सामने आये। इस संदर्भ में एक जो सबसे ऐतिहासिक दस्तावेज़ हमें देखने को मिलता है वह 'क़हतुर्रिजाल' (मनुष्यता का अकाल) शीर्षक उनका लेख है जिसमें लेखक ने मुसलमानों की शुद्धि के आर्यसमाजी आन्दोलन का आग्नेय शब्दों में विरोध किया है। इससे पता चलता है कि अपना सोचना-विचारना प्रेमचंद को खुद ही करना पसंद है, यह अधिकार वह किसी दूसरे को सौंपने के लिए तैयार नहीं, एकला चलो रे के लिए हरदम तैयार। गांधी और गांधीवाद के साथ भी कुछ यही बात देखने में आती है। उसने गांधीजी को स्वीकार किया, और पूरे

मन-प्राण से किया, क्योंकि उन्होंने स्वाधीनता-आन्दोलन को चंद लीडरों के बैठकख़ानों से निकालकर, जहाँ बादशाह सलामत की ख़िदमत में भेजने के लिए बस होमरूल या इसी तरह के छोटे-मोटे स्वाधीनतागंधी अधिकारों को पाने के लिए अर्ज़ियाँ तैयार करना ही कुल काम था, जन-जागरण से जोड़कर सड़कों पर ला खड़ा किया जिसमें कि जनता आगे आकर उसमें हिस्सा ले सके जो कि निश्चय ही एक बड़ा क़दम था। गांधीजी के विचार भी उसको अच्छे लगे क्योंकि वे उसे व्यावहारिक और लाभप्रद जान पड़े। गांधी-दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त हृदय-परिवर्तन भी उसने सहज मन से स्वीकार किया—यद्यपि इसकी भी संभावना पायी जाती है कि यह सिद्धान्त उसे गांधीजी से नहीं बल्कि थोरो और टालसटाय से मिला हो, क्योंकि इस बात का साक्ष्य मिलता है कि ठीक उन्हीं दिनों जब वह टाल्सटाय की नीति-कथाओं का अनुवाद हिन्दी में कर रहा था, गांधीजी उनका अनुवाद गुजराती में कर रहे थे। जैसा कि अनेक आलोचकों ने लिखा है, इस हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त ने प्रेमचंद के तत्कालीन लेखन को काफ़ी कुछ विकृत भी किया है। लेकिन इस आदमी को ज़्यादा अच्छी तरह समझने के लिए यह जानना उपयोगी होगा कि उस समय भी जब वह गांधीजी के आगे पूरी तरह प्रणत था, वह आँख मूँदकर उनकी हर बात को स्वीकार करने या अपने चिन्तन को उनकी लक्ष्मण-रेखाओं के भीतर आबद्ध कर लेने को तैयार नहीं था। जैसा कि हम सभी जानते हैं, गांधीजी जिस भी कारण से हो देश को यह बताने के लिए किसी तरह तैयार न होते थे कि राष्ट्रीय स्वाधीनता से उनका ठीक-ठीक क्या अभिप्राय है। जवाहरलाल नेहरू और अपने दूसरे अनेक नौजवान साथियों, जिनके चिन्तन पर कम या अधिक समाजवादी प्रभाव था, के बहुत ठेलने पर भी वह बस रामराज्य कहकर चुप हो जाते थे; इस रामराज्य से उनका ठीक क्या आशय था, समाज के विभिन्न वर्गों की उसमें क्या स्थिति होगी, उनके आर्थिक-सामाजिक कार्यक्रम की क्या रूपरेखा होगी, यह सब कुछ भी परिभाषित करना उन्हें स्वीकार न था। शायद इसी कारण से यह काम दस बरस रुका रहा और १६२६ में कांग्रेस

के लाहौर अधिवेशन में ही, जहाँ पहली बार देश की स्वाधीनता के लक्ष्य को पूर्ण स्वाधीनता के रूप में परिभाषित किया गया, इन बातों का यत्किंचित् स्पष्टीकरण हो सका।

मगर प्रेमचंद को 'रामराज्य' से क्योंकर संतोष होता; गांधीजी उसको परिभाषित नहीं करना चाहते तो न करें, वह खुद उसको अपने लिए और पाठकों के लिए परिभाषित करेगा वर्ना देश स्वाधीनता-संग्राम के लिए जागेगा कैसे। स्वाधीनता-संग्राम के लिए देश में जन-जागरण को वह आदमी कितना महत्वपूर्ण मानता था, इसका संकेत उसके एक पत्र से भी मिलता है जिसमें किसी के यह पूछने पर कि वह किस राजनीतिक पार्टी का सदस्य है, प्रेमचंद ने जवाब दिया था कि वह किसी भी राजनीतिक पार्टी का सदस्य नहीं है, वह तो उस आने-वाली पार्टी का सदस्य है जो 'अवामुन्नास' अर्थात् जन-साधारण की राजनीतिक शिक्षा को अपना लक्ष्य बनायेगी।

अपने इसी लक्ष्य को अपने सामने रखते हुए प्रेमचंद ने १९२१ में, जब कि स्वराज्य की अवधारणा सबके मन में बिलकुल धुँधली और अस्पष्ट थी 'स्वराज्य के फ़ायदे' शीर्षक एक निबंध में स्वराज्य को इस प्रकार परिभाषित किया :

> अपने देश का पूरा-पूरा इंतज़ाम जब प्रजा के हाथों में हो तो उसे स्वराज्य कहते हैं। जिन देशों में स्वराज्य है, वहाँ प्रजा अपने ही चुने हुए पंचों द्वारा अपने ऊपर राज करती है। वहाँ यह नहीं हो सकता कि प्रजा लगान और करों के बीच में दबी रहे और अधिकारी लोग दिनोंदिन सेना बढ़ाते जायें, कर्मचारियों का वेतन बढ़ाते जायें। प्रजा भूखों मर रही हो, चारों ओर अकाल पड़ा हो, और देश का अन्न दूसरे देशों को ढोया चला जाता हो।... स्वराज्य के तीन भेद हैं। एक वह है जहाँ का राजा उसी देश का निवासी होता है लेकिन राज का सब काम अपनी ही इच्छानुसार करता है, प्रजा उसके इंतज़ाम में ज़रा भी दख़ल नहीं दे सकती, जैसे काबुल, नेपाल। दूसरा वह है जहाँ का राजा अपनी प्रजा के प्रति-

निधियों की सलाह के बिना कुछ न कर सकता हो, जैसे इंग्लिस्तान, जापान। तीसरा वह है जहाँ राजा नहीं होता, उसकी जगह पर पंच लोग किसी योग्य और सर्वमान्य पुरुष को चुनकर कुछ नियत समय के लिए अपना प्रधान बना लेते हैं और वह प्रजा के चुने हुए मेम्बरों की सम्मति से राज्य का सारा प्रबंध करता है, जैसे, फ्रांस, अमेरिका, चीन आदि। भारत की दशा विचित्र है, वह इन तीनों भेदों में से एक में भी नहीं आता, उसकी दशा सबसे गयी-बीती है न उसका राजा ही भारत का निवासी है और न वह प्रजा के चुने हुए पंचों द्वारा देश पर राज्य ही करता है। ... हम इन तीनों भेदों में कौन चाहते हैं, यह अभी साफ़-साफ़ नहीं कहा जा सकता पर इसमें अब ज़रा भी संदेह नहीं है कि हम वह स्वराज्य चाहते हैं जहाँ प्रजा के चुने हुए पंचों की सलाह से सब राजकाज किया जाता है और पंचों की सम्मति के बिना शासक लोग कुछ भी नहीं कर सकते। भारत में ऐसी सभाएँ हैं जहाँ प्रजा के प्रतिनिधि सरकार को सलाह देने जाते हैं। छोटे लाट साहब और बड़े लाट साहब दोनों ही को सलाह देने के लिए ऐसी सभाएँ बनायी गयी हैं। लेकिन एक तो इन सभाओं में जो पंच प्रजा की ओर से भेजे जाते हैं उन्हें वही लोग चुनते हैं जो या तो महाजन हैं या बड़े ज़मींदार या बड़े काश्तकार हैं, साधारण जनता को उनके चुनने का अधिकार नहीं है; दूसरे इन सभाओं को केवल राय देने का अधिकार है, अधिकारियों की इच्छा है चाहे उस राय को मानें या न मानें, वह इन सलाहों को मानने के लिए मजबूर नहीं हैं। विदित ही है कि वास्तव में ये सभाएँ केवल हाथी के दाँत हैं, उनकी ज़ात से जनता की कोई भलाई नहीं हो सकती।

इसके साल भर बाद हम प्रेमचंद को अपना 'संग्राम' नाटक लिखता पाते हैं। रंगमंच की दृष्टि से यह नाटक बिलकुल ही दुर्बल

है लेकिन जनता की आज़ादी और लोकतंत्र के संबंध में लेखक की क्रान्तिकारी दृष्टि के एक दस्तावेज़ के रूप में अत्यन्त मूल्यवान्। इसमें हम उसके नायक सबल सिंह को मैजिक लैण्टर्न की मदद से चित्र दिखा-दिखाकर ग्रामीण जनता को आज़ादी और लोकतंत्र की बुनियादी अवधारणाएँ समझाते हुए पाते हैं।

यह आदमी अपने युग से आगे की बात सोच पाता है, यही उसकी समसामयिकता और अधुनातन प्रासंगिकता का रहस्य है। कभी-कभी उसकी इस भविष्य-दृष्टि को देखकर सचमुच आश्चर्य होता है। ज़रा सोचिए, अभी-अभी गांधीजी का आगमन भारत में हुआ है और आगामी स्वाधीनता संग्राम की तैयारियाँ अभी बस शुरू हुई हैं। कुछ संगठन भी खड़े हो गये हैं लेकिन १९२१ का आन्दोलन अभी दो बरस आगे की बात है, जब कि प्रेमचंद फ़रवरी १९१९ में प्रकाशित अपने एक लेख 'नया ज़माना पुराना ज़माना' में इस तरह की बातें कहते सुनायी पड़ते हैं :

> जनता को इस जड़ता की स्थिति में रखने का सारा दोष शिक्षित और संपन्न लोगों पर है। हमारे स्वराज्य के नेताओं में वकील और ज़मींदार ही सबसे ज़्यादा हैं। हमारी कौंसिलों में भी यही दो समुदाय आगे-आगे दिखायी पड़ते हैं। मगर कितने शर्म और अफ़सोस की बात है कि उन दोनों में से एक भी जनता का हमदर्द नहीं। वे अपने ही स्वार्थ और प्रभुत्व की धुन में मस्त हैं। ... आप स्वराज्य की हाँक लगाइए, सेल्फ़-गवर्नमेंट की माँग कीजिए, कौंसिलों को विस्तार देने की माँग कीजिए, उपाधियों के लिए हाथ फैलाइए, जनता को इन चीज़ों से कोई मतलब नहीं है। वह आप की माँगों में शरीक नहीं है बल्कि अगर कोई अलौकिक शक्ति उसे मुखर बना सके तो वह आज ज़ोरदार आवाज़ में, शंख बजाकर आपकी इन माँगों का विरोध करेगी। कोई कारण नहीं है कि वह दूसरे देशों के हाकिमों के मुक़ाबले में आपकी हुकूमत को ज़्यादा पसंद करे। जो रैयत अपने अत्या-

चारी और लालची ज़मींदार के मुँह में दबी हुई है, जिन अधिकार-संपन्न लोगों के अत्याचार और बेगार से उसका दिल छलनी हो रहा है, उनको हाकिम के रूप में देखने की कोई इच्छा उसे नहीं हो सकती।

इसकी क्या ज़मानत है कि आपके पंजे में आकर उनकी हालत और भी बुरी न हो जायगी ? आपने अब तक इसका कोई सबूत नहीं दिया कि आप उनकी भलाई चाहनेवाले हैं। अगर कोई सबूत दिया है तो उनकी बुराई चाहने का, स्वार्थ का, लोभ का, कमीनेपन का। आप स्वराज्य की कल्पना का मज़ा ले-लेकर खूब फूलें और बग़लें बजायें मगर अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों का ध्यान रखना भी ज़रूरी है। जाहिल रईसों या ज़मींदारों से हमें शिकायत नहीं। उनकी आँखें उस वक़्त खुलेंगी जब उनकी गर्दनें जनता के हाथों में होंगी और वह बेबस निगाहों से इधर-उधर ताक रहे होंगे। शिकायत हमें उन लोगों से है जो पढ़े-लिखे हैं और ज़मींदार हैं, वकील हैं और ज़मींदार हैं। वह अपने दिल से पूछें कि वह प्रजा के साथ अपना कर्तव्य पूरा कर रहे हैं ? कभी कभी अपने कृत्यों और अपनी कमियों के बारे में अपने दिल से पूछना ज़रूरी होता है। उनका दिल साफ़ कहेगा कि तुम इस तराज़ू पर तौले गये और ओछे निकले। ज़रा शहर के शान्तिपूर्ण कोने से निकलकर वहाँ जाइए जहाँ जनता की आबादी है, जहाँ आपके नब्बे फ़ी सदी देशवासी बसते हैं। उस तड़प का आपके दिल पर एक निहायत रौशन असर पड़ेगा। आपकी आँखें खुल जायेंगी। अन्याय और अत्याचार के दृश्य आपका दिल हिला देंगे। क्या यह शर्म की बात नहीं कि जिस देश में नब्बे फ़ी सदी आबादी किसानों की हो, उस देश में कोई किसान सभा, कोई किसानों की भलाई का आन्दोलन, कोई खेती का विद्यालय, किसानों की भलाई का कोई व्यवस्थित प्रयत्न न

हो। आपने सैकड़ों मदरसे और कालेज बनवाये, यूनिवर्सिटियाँ खोलीं और अनेक आन्दोलन चलाये मगर किसके लिए ? सिर्फ़ अपने लिए, सिर्फ़ अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए। और शायद अपने राष्ट्र की जो कसौटी आपके दिमाग़ में थी उसको देखते हुए आपका आचरण ज़रा भी अ पत्तिजनक न था। मगर नये ज़माने ने एक नया पन्ना पलटा है। आनेवाला ज़माना अब किसानों और मज़दूरों का है। दुनिया की रफ़्तार इसका साफ़ सबूत दे रही है। हिन्दुस्तान इस हवा से बेअसर नहीं रह सकता। हिमालय की चोटियाँ उसे इस हमले से नहीं बचा सकतीं। जल्द या देर से, शायद जल्द ही, हम जनता को केवल मुखर ही नहीं अपने अधिकारों की माँग करनेवाले के रूप में देखेंगे और तब वह आपकी क़िस्मतों की मालिक होगी। तब आपको अपनी बेइंसाफ़ियाँ याद आयेंगी और आप हाथ मलकर रह जायेंगे। जनता की इस ठहरी हुई हालत से धोखे में न आइए। इनक़लाब के पहले कौन जानता था कि रूस की पीड़ित जनता में इतनी ताक़त छिपी हुई है ?

एकाएक पढ़कर धोखा हो जाता है कि जैसे कोई आज बोल रहा हो और तब अपने आप को याद दिलाना पड़ता है कि नहीं, ऐसा नहीं है; यह बात, अपने समय से इतनी आगे बढ़ी हुई, आज से पैंसठ-छियासठ साल पहले कही गयी थी जब कि रूस की जनक्रान्ति को अभी कुछ महीने ही हुए थे। इतिहास के भीतर यह अन्तर्दृष्टि, भविष्य को पहले से देख सकने की यह क्षमता, यही प्रेमचंद की उस प्रासंगिकता का रहस्य है जो अभी तो घटने की बजाय शायद बढ़ती ही जा रही है। प्रेमचंद का इस तरह रूसी जन-क्रान्ति की सचाई को देख लेना और आगामी दशकों में अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर उसकी क्रान्तिकारी भूमिका को ऐसी पैनी अन्तर्दृष्टि से समझ लेना और भी अद्भुत इसलिए लगता है कि सारी दुनिया के समाचारपत्रों ने, जिन पर तब साम्राज्यवादियों का ही वर्चस्व था, सोवियत जन-क्रान्ति की सचाई को दबाकर उसके सम्बन्ध में

यहाँ से वहाँ तक झूठ का एक पर्दा खड़ा कर रखा था। 'प्रेमाश्रम' उपन्यास तो उसकी इस भविष्य-दृष्टि की कहानी को और भी कई महीने पीछे ले जाता है। उसकी उर्दू पाण्डुलिपि को देखने से पता चलता है कि प्रेमचंद ने यह उपन्यास २ मई १९१८ को लिखना शुरू किया और २५ फरवरी १९२० को ख़तम किया। ४२५ पन्नों की इस कृति को लिखने में उसे पौने दो साल का समय लगा। इससे शायद यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दो-ढाई महीने में, अर्थात् जुलाई १९१८ तक, वह उस ५३वें पृष्ठ पर पहुँच गया होगा जिसमें बलराज अपने दूसरे किसान भाइयों से कहता है :

> तुम लोग तो ऐसी हँसी उड़ाते हो जानों कास्तकार कुछ होता ही नहीं, वह जमींदारों की बेगार ही भरने के लिए बनाया गया है; लेकिन मेरे पास जो पत्र आता है उसमें लिखा है कि रूस देश में कास्तकारों ही का राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं। उसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है, कास्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजूरों की पंचायत राज करती है।

इतनी सजग, क्रान्तिकारी चेतना के साथ फिर प्रेमचंद का अपने मित्र मुंशी दयानरायन निगम को २१ दिसंबर १९१९ के अपने पत्र में यह लिखना कि 'मैं अब क़रीब क़रीब बोल्शेविस्ट उसूलों का क़ायल हो गया हूँ' बिलकुल स्वाभाविक सी ही बात थी। मगर उसकी इस बात से धोखे में मत आइए। वह सचमुच बोलशेविस्ट नहीं हो गया है; यह तो उसका बात कहने का ढंग है। वह कहना सिर्फ़ यह चाहता है कि मजूरों और किसानों की ज़िन्दगी बदले, संवरे, उनके कष्टों का अंत हो यानी उनके शोषण का अंत हो, और चूँकि सोवियत जन-क्रान्ति ने इस दिशा में एक ऐतिहासिक क़दम उठाया है, इसलिए यह आदमी आगे बढ़कर उसका स्वागत-अभिनदंन कर रहा है।

उसके जीवन और उसके लेखन का केन्द्रीय सत्य उसकी यही जन-प्रतिबद्धता है — और उसकी इसी प्रतिबद्धता का यह प्रसाद है कि

१९३१ में लिखी गयी एक कहानी 'आहुति' की एक पात्री कहती है :

> अगर स्वराज्य आने पर भी संपत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। अंग्रेज़ी महाजनों की धन-लोलुपता और शिक्षितों का स्वहित ही आज हमें पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ायेगी कि वे विदेशी नहीं स्वदेशी हैं ? कम से कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जायँ।

मुझे पूरा विश्वास है कि इन पंक्तियों से आपको 'पुराना ज़माना, नया ज़माना' की वो आग की तरह दहकती हुई पंक्तियाँ याद आयी होंगी जो अभी ज़रा पहले आपके सामने प्रस्तुत की जा चुकी हैं। वह लेख १९१९ का है, यह कहानी १९३१ की है; इससे यह पता चलता है कि देश के लिए क्या अच्छा है और क्या बुरा, इसकी अपनी सरल-सी कसौटियाँ प्रेमचंद ने काफ़ी पहले बना ली थीं और वो सारी ज़िन्दगी उसके साथ चलीं। सच तो ये है कि जनहित की यह जो उसकी कसौटी है, यही वह शक्ति है जो उसे विचारों की अपनी यात्रा में बराबर आगे ही आगे बढ़ाती रही है। यहाँ तक की .वह अपनी जीवन-यात्रा का अंत होते-होते विचारों की यात्रा की उस आख़िरी मंज़िल पर पहुँचता है जिसके दो दस्तावेज़ उसने 'महाजनी सभ्यता' नामक लेख और 'मंगलसूत्र' नामक अपूर्ण उपन्यास के रूप में छोड़े है। 'महाजनी सभ्यता' में वह इस पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की निर्मम चीर-फाड़ करने के बाद सोवियत समाज-व्यवस्था का मुक्त कंठ से अभिनंदन करता है और फिर अपने अंत समय से कुछ ही दिन पहले लिखे गये अपने इस अंतिम वक्तव्य में भविष्यवाणी-सी करते हुए कहता है :

> धन्य है वह सभ्यता जो मालदारी और व्यक्तिगत संपत्ति का अन्त कर रही है, और जल्दी या देर से दुनिया उसका

पदानुसरण अवश्य करेगी। यह सभ्यता अमुक देश की समाज-रचना अथवा धर्म-मज़हब से मेल नहीं खाती या उसके वातावरण के अनुकूल नहीं है— यह तर्क नितान्त असंगत है। ईसाई मज़हब का पौधा यरूशलम में उगा और सारी दुनिया उसके सौरभ से बस गयी। बौद्ध धर्म ने उत्तर भारत में जन्म ग्रहण किया और आधी दुनिया ने उसे गुरुदक्षिणा दी। मानव-स्वभाव अखिल विश्व में एक ही है। छोटी-मोटी बातों में अन्तर हो सकता है पर मूल स्वरूप की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव जाति में कोई भेद नहीं। जो शासन-विधान और समाज-व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुर्गे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जनसाधारण को बहकावेंगे, उनकी आँखों में धूल झोंकेंगे, पर जो सत्य है एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।

'मंगलसूत्र' में गांधीजी के उस हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त से, जिसका वर्षों तक उसके मन पर अधिकार रहा, अंतिमरूपेण संबंध-विच्छेद करते हुए उसने कहा—

हाँ, देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नज़र आता है। वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से विदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हें देवता क्यों, कायर कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है तो धर्म से गिरता है, और अगर उसकी आँखों में यह कुव्यवस्था खटकती ही नहीं तो वह अंधा भी है और मूर्ख भी, देवता किसी तरह नहीं। और यहाँ देवता बनने की ज़रूरत भी नहीं। देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति की

मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्य ने अब तक इसका अन्त कर दिया होता या समाज का ही अन्त कर दिया होता, जो इस दशा में ज़िन्दा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में, उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं जड़ता है।

इस आदमी के चिन्तन की यह जो गतिशीलता है, भविष्य के भीतर पैठ सकनेवाली उसकी दूर-दृष्टि है, यही उसकी प्रासंगिकता की सबसे बड़ी ज़मानत है और आगे भी रहेगी।*

———

* प्रेमचंद जन्मशती के प्रसंग में दिल्ली में आयोजित एक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी के लिए प्रस्तुत अंग्रेजी निबंध का हिन्दी रूपान्तर।

सृजन की भाषा

सृजन की भाषा के स्वरूप को समझने के लिए सृजन की प्रक्रिया को समझना ज़रूरी है, यानी कि जितना कुछ उसे समझा जा सकता है। जितना कुछ इसलिए कह रहा हूँ कि उसमें काफ़ी कुछ ऐसा है जो नितान्त रहस्यमय है—और शायद इसीलिए उसमें किसी अति-प्राकृतिक या दैवी शक्ति को आरोपित कर लिया गया होगा। लेकिन जहाँ अभी प्राकृतिक शक्तियों के रहस्य का ही क ख ग हमें पता न चल सका हो वहाँ दैवी शक्ति को बीच में ले आने की जल्दी क्यों की जाय जिसके बाद कुछ कहने-सुनने को ही नहीं रह जाता।

चिन्तनपरक लेखन की प्रक्रिया फिर भी, अपेक्षया कुछ अधिक स्पष्ट है क्योंकि वह पूरी तरह तो नहीं पर बहुत अंशों में व्यक्ति की तर्कबुद्धि से संचालित होता है—पूरी तरह इसलिए नहीं कि अगर वह पूरी तरह आदमी की तर्कबुद्धि का ही खेल होता तो अंकों की अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न शकुन्तला राव अमेरिका के नवीनतम और श्रेष्ठतम कंप्यूटर को परास्त न कर पातीं, जिसका समाचार अभी पिछले दिनों आपने भी पढ़ा होगा। दो सौ ग्यारह कि पता नहीं कितने अंकों की भूधराकार संख्या का रूट २१ निकालना था। इसके लिए कंप्यूटर को पता नहीं कितने डेटा पहले से फ़ीड करने पड़े थे और उसमें समय भी वैसा ही लम्बा-चौड़ा लगा था। लेकिन संख्या जैसे ही पहली बार शकुन्तला राव के सामने आयी उसने एक मिनट से भी कम, पचास सेकन्ड में उत्तर दे दिया और कंप्यूटर को अपना जवाब उगलने में दसियों मिनट लगे और यह विस्मयकारी स्थिति सामने आयी कि इस स्वयंचालित मानव कंप्यूटर शकुन्तला राव ने उस यांत्रिक कंप्यूटर को पछाड़ दिया, जब कि वैज्ञानिक

प्रेक्षकों के अनुसार शकुन्तला राव के जीतने की सम्भावना कंप्यूटर के उनसठ करोड़ के मुक़ाबले में एक थी! शकुन्तला राव से जब पूछा गया कि इसका रहस्य क्या है, कैसे यह संभव हुआ, तो उसने बड़ी सादगी से कहा कि वह तो तीन साल की उम्र से इस तरह के सार्वजनिक प्रदर्शन करती रही है और बात कुछ भी नहीं, संख्या सामने आते ही उसका उत्तर भी उसकी आँखों के आगे झलक जाता है। आस्ट्रेलिया के किसी विश्वविद्यालय में, अब से कुछ बरस पहले, कंप्यूटर और शकुन्तला राव के उत्तर में अन्तर था। शकुन्तला राव ने बेधड़क कहा कि आपका कंप्यूंटर ग़लत है। कंप्यूटर की परीक्षा की गयी, वह सचमुच ग़लत था। इससे पता चलता है कि मनुष्य के अन्दर यह जो अन्तर्ज्ञान या प्रातिभ ज्ञान का भी एक आयाम है उसके बारे में हमारा विज्ञान अभी कुछ भी नहीं जानता। इसलिए यह भी पूरे विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि जिस चिन्तनपरक लेखन को हम मोटे रूप में आदमी की तर्कबुद्धि से प्रसूत मानते हैं उसमें भी मनुष्य के इस अन्तर्ज्ञान का कुछ योग नहीं होता। तथापि शायद यह कहना ठीक होगा कि कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि विधाओं में की गयी जो सर्जनात्मक रचना है उसकी तुलना में चिन्तनपरक लेखन अधिक अंशों में तर्कबुद्धि से ही प्रसूत होता है। जो हो, अभी तो हमें सर्जनात्मक लेखन की भाषा पर विचार करना है।

मैं नहीं जानता, शायद किन्हीं दो लेखकों की रचना-प्रक्रिया एक जैसी नहीं होती। इसलिए कि कोई दो व्यक्ति एक ही जैसा शरीर रखकर भी एक जैसे नहीं होते। मन को तो छोड़ ही दीजिए, बहुत ही सूक्ष्म व्यापार है, कोई दो चेहरे भी एक जैसे नहीं होते। सबके स्वभाव अलग, प्रकृति अलग, क्षमताएँ अलग। इसलिए मैं तो थोड़ा-बहुत जो कुछ कह सकता हूँ वह अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में। संभव है उसमें से कुछ सामान्य निष्कर्ष भी निकाले जा सकें जो औरों के लिए भी कुछ उपयोगी ठहरें। साहित्यकार कोई अजूबा जानवर नहीं होता, वह भी वैसा ही हाड़-मांस का पुतला होता है जैसा कोई

दूसरा आदमी। वही सब दुख-दर्द उसके साथ भी लगे हैं जो दूसरे किसी के साथ। उसकी दुनिया भी यही है, इसलिए उसका अनुभव-संसार भी उन्हीं चीज़ों से बनता है जिनसे दूसरे किसी अ-लेखक बन्धु का। उसे भी कभी किसी बात पर हँमी आती है, किसी बात पर गुस्सा आता है. कभी निराशा के बादल ऐसे घिर आते हैं कि साँस रुकने लगती है, और कभी ये बादल छँट जाते हैं और सब तरफ़ सुनहरी धूप फैल जाती है। यह जो लेखक और पाठक के बीच उनके अनुभव के संसार और संवेदना के संसार की समानता है, यही तो वह सेतु है जो साहित्य के संप्रेषण को संभव बनाता है। लेखक का अगर कोई वैशिष्ट्य है तो वह केवल इतना कि उसके भीतर एक सर्जनात्मक क्षमता भी होती है जो साधारण पाठक के पास नहीं होती। सभी अपने समय में किसी न किसी को प्यार करते हैं लेकिन उस प्रेम की रससिद्ध कहानी या गीत नहीं लिख सकते। सभी को जीवन में कभी न कभी अपने किसी प्रियतम स्वजन का वियोग देखना पड़ता है, लेकिन सभी उस दर्द को. घाव को, लिपिबद्ध नहीं कर सकते। अनुभव वही सबका दैनंदिन साधारण सा अनुभव है लेकिन एक व्यक्ति उसे बस भोगकर रह जाता है और दूसरा व्यक्ति उसको किसी छोटी या बड़ी साहित्यिक सृष्टि के रूप में भी ढाल लेता है। यही लेखक की सर्जनात्मक क्षमता है जिसे प्रतिभा कहने से मैं बच रहा हूँ क्योंकि प्रतिभा सचमुच बहुत बड़ी चीज़ होती है, बिरलों के पास होती है, मेरे जैसे छोटे लेखक के मुँह से उसकी बात मुझे अपने ही कानों में दांभिक सी सुनायी पड़ती है।

ध्यान से विश्लेषण करने पर इस सर्जनात्मक क्षमता के तीन विशिष्ट आयाम दिखायी पड़ते हैं। सबसे पहले तो एक सर्जनात्मक दृष्टि या अर्न्तदृष्टि जो साधारण परिचित संदर्भों में भी वह कुछ देख लेती है जो दूसरा व्यक्ति नहीं देख पाया था। नम्बर दो अनुभवों के सर्जनात्मक संयोजन की क्षमता। अपनी रचना की परिकल्पित रूपरेखा के संदर्भ में जहाँ जब जो अपेक्षित हो, अतीत को वर्तमान के साथ और वर्तमान को भविष्य के साथ जोड़कर देख सकना; अपने

ही विभिन्न अनुभवों को और विभिन्न प्रकार के अनुभवों को एक नयी कलात्मक संगति में परस्पर संयोजित कर सकना; दूसरों के प्रामाणिक अनुभवों को भी अपने अनुभवों की पीठिका में अपना बनाकर परस्पर संयोजित कर सकना। जहाँ साधारण व्यक्ति के लिए हर अनुभव अपने में एक पृथक् इकाई होता है वहाँ लेखक उन रंग-बिरंगे अनुभव-खण्डों को अपने स्मृति-कोष में से निकालकर कभी एक प्रकार से और कभी दूसरे प्रकार से परस्पर संयोजित करके नये-नये रूप-रंग के आकर गढ़ता रहता है। तीसरा आयाम इस सर्जनात्मक क्षमता का है भाषा, सर्जनात्मक भाषा, सार्थक, सहज, जीवंत भाषा जो एक साथ ही साधारण भी है और असाधारण भी, परिचित भी और अपरिचित भी; साधारण इस अर्थ में कि उसे साधारण बोलचाल से ही उठाया गया है, असाधारण इस अर्थ में कि उसका प्रयोग नितान्त दैनंदिन संदर्भों से ऊपर उठकर कुछ ऐसे गहरे बहुआयामी बहुस्तरीय :मानवीय संदर्भों में किया जा रहा है जिसके फलस्वरूप वह दैनिक प्रयोजन के साधारण बोलचाल की भाषा स्वत: उठकर एक नयी अर्थवत्ता पा लेती है जो उसके लिए असाधारण है; परिचित इस अर्थ में कि शब्द सभी परिचित हैं लेकिन भाषा अपरिचित, क्योंकि उन शब्दों से मिलकर जो भाषा बनी है, उसकी लहरें, उसकी गूँजें-अनुगूँजें, उसका वायुमण्डल, सभी कुछ अपरिचित-सा लगता है।

नौजवानों से अपनी एक बातचीत में मैक्सिम गोर्की ने भाषा की चर्चा करते हुए एक जगह कहा — साहित्य का मूल तत्व है भाषा। भाषा ही साहित्य का मुख्य साधन है और जब वह जीवन की वास्तविकताओं के गहरे संपर्क में आती है तो वही साहित्य के लिए कच्चे माल का काम देती है और उसी से साहित्य का निर्माण होता है। एक बहुत अच्छी कहावत में भाषा की परिभाषा की गयी है कि 'वह शहद तो नहीं है मगर हर जगह चिपक जाती है।' इसका अर्थ यह है कि संसार में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसकी संज्ञा न हो। शब्द ही समस्त घटनाओं और विचारों का परिधान है। मगर हर घटना का सामाजिक महत्व उस घटना के पीछे छिपा रहता है और हर :

विचार के पीछे कोई कारण होता है। अगर किसी साहित्यिक रचना का उद्देश्य यह हो कि वह घटनाओं के पीछे छिपे हुए सामाजिक अभिप्राय को समग्र भाव से, पूरी स्पष्टता और पूर्णता के साथ उद्घाटित करे तो इसके लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है जो सरल हो और भावों को बिलकुल ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने की क्षमता से संपन्न हो। इस कार्य के लिए होशियारी से चुने हुए शब्दों की जरूरत है।

मैं नहीं जानता होशियारी से शब्द चुनना किसे कहते हैं, शब्द-कोश में तो शब्द ही शब्द भरे होते हैं पर क्या मैं लाख होशियारी भी बरतूँ तो उसमें से अपने लिए कोई शब्द चुन सकता हूँ? मैं समझता हूँ कि शब्द होशियारी से नहीं चुना जाता, अन्तस्संज्ञा उसे आप चुन लेती है, मन के भीतर के शब्दकोश में से। मुझे लगता है कि जब मन में कोई भाव उठता है तो अपने साथ उसकी अभिव्यक्ति की संज्ञा भी लिये रहता है, जो स्पष्ट हुई तो शब्द झट मिल जाता है और अस्पष्ट या धूमिल-सी हुई तो सृजन की उस प्रक्रिया में एक के बाद दूसरा शब्द उपस्थित चुनौती का सामना करने के लिए मन की गहराइयों में से उठकर ऊपर आता है — वैसे ही जैसे सीता-स्वयंवर में एक के बाद दूसरा वीर उस धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाने के लिए आया था और अपना सा मुँह लेकर चला गया था — और जब ठीक-ठीक शब्द मिल जाता है तब सर्जक मन परम सुख से उसके गले में वरमाला डाल देता है, वैसे ही जैसे सीताजी ने भगवान् रामचन्द्र के गले में वरमाला डाल दी थी। मेरे निकट अभिव्यक्ति कुछ ऐसा ही एक स्वयंवर है। मैं ठीक शब्द के लिए कोश नहीं पलटता, आँख मूँदकर अपने भीतर डूब जाता हूँ और डूबा रहता हूँ जब तक कि मुझे वह शब्द नहीं मिल जाता जिसकी कि मुझे तलाश है। यहाँ मैं अपने को फ़्लॉबेयर के Le mot juste का अनुयायी पाता हूँ क्योंकि मेरा विश्वास है कि कोई शब्द किसी का पर्याय नहीं होता — वह स्थूल प्रयोजनों के लिए किया गया एक नामकरण है। हर शब्द का अपना व्यक्तित्व, अपना ख़ास चेहरा-मोहरा, रूप-रंग होता है, सबकी काठी अलग, सबका वज़न अलग। उनमें से कोई एक ही अपना शब्द है। वह जब

मिलता है तब ऐसा नहीं लगता कि जैसे पहली बार उससे मिल रहे हों या उसे देख रहे हों बल्कि जैसे अपने किसी पुराने दोस्त को पहचान रहे हों जो इस बीच अपने से बिछुड़ गया था पर जिसका चेहरा-मोहरा अच्छी तरह आँखों में बसा हुआ था। आदमी के मन में, जिससे अच्छा कंप्यूटर न आज कहीं दुनिया में है और न शायद किसी दिन होगा, पता नहीं कब-कब के अपने कान में पड़े हुए कितने हज़ारों-लाखों शब्द होते हैं, ऐसे-ऐसे भी शब्द जिनके वहाँ होने का अपने ही को पता नहीं होता। अभिव्यक्ति की चुनौती मिलने पर सब धीरे-धीरे आँखें खोलने लगते हैं—आवाज़ दो, किसकी ज़रूरत है? लेकिन शब्दों का यह विस्तृत निजी कोश अपने पास हो इसके लिए अपेक्षित है विशाल अध्ययन और उससे भी अधिक, जीवन का विशाल अनुभव, समाज के विविध क्षेत्रों का, अंगों का, स्तरों का। जिसका अनुभव-क्षेत्र जितना ही विशाल है उसका शब्दकोश ही नहीं समस्त रचना-कोष उतना ही विपुल होता है—पहले साहित्य का कच्चा माल बटोरना पड़ता है फिर उससे साहित्य की सृष्टि होती है। (साहित्य के कच्चे माल की बात मैं लिख तो गया, जो शायद आपको बहुत बुरी भी न लगी हो क्योंकि आप भिलाई के इतने पास हैं लेकिन मैं गँवई-गाँव का आदमी हूँ. मेरा मन कम से कम इस आधुनिक टेक्नॉलोजी के युग में भी उसी गँवई-गाँव का है, मुझे वही सब अच्छा लगता है, भले वह गँवई-गाँव भी अब यथार्थ में मिट चुका हो और केवल मेरी स्मृतियों में सुरक्षित हो जो कि मेरे बचपन की स्मृतियाँ हैं। जो भी हो मुझे साहित्य के कच्चे माल की बात कहने से साहित्य-रचना से लिए किये गये मधुसंचय की बात कहना ज़्यादा अच्छा लगता है।) बँधे-टके जीवन में से महत् साहित्य नहीं निकलता। जिस भी बड़े रचनाकार का जीवन-वृत्त आप देखेंगे उसका अनुभव-क्षेत्र आपको विशाल मिलेगा। उदाहरण के लिए टॉलसटॉय को देखिए। काउंट के घर में जन्म हुआ। बड़ी ज़मीन का मालिक। बड़े घरानों के लड़कों जैसा ही घनघोर विषय-वासना का जीवन। फिर उसका सेना में जाना और युद्धों का प्रत्यक्ष अनुभव। कहना शायद ग़लत न होगा कि रूस के उच्चतम समाज और युद्धों के अनुभव में से ही 'आना करेनिना' और 'वॉर एंड पीस' की सृष्टि हुई। फिर लौटकर

डा. डिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय
८९६५

यासनाया पोलयाना में आना और (जैसा लेनिन ने उसके बारे में कहा था कि उसका जन्म भले बड़े ज़मीन्दार के घर में हुआ हो, उसका दिल साधारण किसान का है) अपनी खेती-किसानी में लगना और विषय-वासना से बैराग्य होना और सादे से सादे जीवन को अपनाना, सच्चे ईसाई की नैतिकता को अपने जीवन में चरितार्थ करना। स्पष्ट है कि 'पैरेबुल्स एंड टेल्स' इसी जीवन-शैली की उपलब्धि है। या शेक्सपियर को लीजिए। अपनी नाटक-मंडली के साथ देश भर में घूमते फिर रहे हैं। उतने ही अधिक और एक से एक बहुरंगी लोगों का साथ, उतने ही सारे जीवन-कथानक, आपस के लड़ाई-झगड़े, प्रेम-वासना, सभी कुछ। या गोर्की को ही लीजिए — जो कैसी-कैसी दारुण जीवन-स्थितियों में रहा कि एकाधिक बार आत्महत्या का भी प्रयास किया, पूरंपूर आवारों की ज़िन्दगी जब उसने पैदल ही अपने पूरे देश की यात्रा की और असंख्य अच्छे-बुरे लोग उसके जीवन में आये। जाने कैसे कैसे अनुभव उसे हुए। उसी सब में से तो नित नये कथानक मिलते हैं और सजीव चरित्रों की हँसती-बोलती गैलरी निकलकर आती है। या अपने शरत् को ही लीजिए—ऐसा बहुरंगी जीवन तो उन योरोपियन लेखकों में भी कम ही का होगा। कैसे-कैसे आदमी, कैसी-कैसी औरतें, साक्षात् समर्पण और प्रेम और वातसल्य की प्रतिमा लाजवंती कुलवधुएँ भी और शरीर का धंधा करनेवाली कसबिनें भी, और गुंडे-बदमाश-जुआरी, सभी तरह के लोग, जो शरत् के रचना-पटल को ऐसा विस्तार देते हैं कि उसे देखकर आश्चर्य होता है। रवीन्द्रनाथ बड़े घर में पैदा हुए। उन्हें यह आवारों की ज़िंदगी बिताने को नहीं मिली या बितानी नहीं पड़ी, जो भी चाहे कह लीजिए। लेकिन उसकी पूर्ति दूसरी तरह से हुई, उन तमाम लोगों, गायकों, वादकों, विचारकों, शब्द-शिल्पियों, चित्रकारों. और दूसरे तरह-तरह के मजलिसी लोगों की महफ़िल में जो रोज़ जोड़ासाँको में आकर जुटते थे। इतना ही नहीं, इस कमी को उन्होंने और भी पूरा किया अपनी अनेकानेक देश-विदेश की यात्राओं से। प्रेमचंद की ज़िंदगी बेपनाह बँधी-टकी थी पर सरकारी स्कूलों की मास्टरी के चलते जो ढेरों बार यहाँ-वहाँ उनके

तबादले हुए वह एक बड़ा वरदान सिद्ध हुआ, और खुद अपने गाँव की ज़िन्दगी से जो उनका गहरा संपर्क जीवन-पर्यन्त बना रहा, वह तो जैसे शक्ति का संबल था ही। स्टाइनबेक ने अपने जीवन के आरंभिक काल में रेस्तोराँ के वेटर और अख़बार बाँटनेवाले छोकरे से लेकर पत्र के संवाददाता तक जाने कितनी तरह के काम किये। वैसे ही हेमिंग्वे का भी बहुत अनुभव-बहुल जीवन रहा। शिकारी की तरह तो वह दुनिया के कोने-कोने में भटका ही, मुख्यतः अफ्रीका में, पहले महायुद्ध में वह इटली में सेना की एक ट्रक का ड्राइवर रहा, स्पेन के युद्ध में एक पत्रकार के रूप में यहाँ-वहाँ मोर्चों पर फिरता रहा। कबीर ने साधारण जुलाहे का जीवन तो बिताया ही (जो भी सर्जनात्मकता की दृष्टि से उर्वर ही कहा जायेगा), उस मध्ययुग में जब यात्राएँ इतनी कठिन थीं उसने देश के कोने-कोने की यात्रा भी की। कबीर की भाषा-संपदा में उसका वह जुलाहों का जीवन और वो सब यात्राएँ बराबर बोलती हुई सुनी जा सकती हैं। उदाहरणों की क्या कमी, जितने भी चाहिए मिल जायेंगे पर क्या ज़रूरत। बहुत सीधी सी बात है, विशाल जीवन-अनुभव में से ही विशाल रचना-पटल और विशाल शब्द-संपदा मिलती है।

इस संदर्भ में मैं इसे बड़े दुर्भाग्य की बात मानता हूँ कि हमारे बहुत से नये रचनाकार, जब कि उनके शरीर में शक्ति भी अधिक है और कंधे भी हल्के हैं जीवन को भरपूर जीने की बात न सोचकर — जिसमें से ही उनकी सर्जनात्मकता को अपना आहार मिल सकता है — यहाँ-वहाँ टी हाउसों और कॉफ़ी हाउसों में अपने ही जैसे दूसरे नये रचनाकारों के संग उठने-बैठने और इसकी-उसकी टाँग घसीटने में ही अपना सारा समय नष्ट कर देते हैं। शायद उन्हें लगता हो कि साहित्य में आगे बढ़ने, अपनी जगह बनाने का यही रास्ता है। संभव है कि उन्हें इसका कुछ सुफल मिलता भी दिखायी देता हो, लेकिन मैं नहीं समझता कि इससे उनका कुछ स्थायी उपकार होता है। मैं तो समझता हूँ कि अपकार ही होता है, स्थायी उपकार तो अपनी सर्जनात्मकता को सतेज और बलिष्ठ बनाने से ही हो सकता है। और उसका रास्ता वही है जो सदा से रहा है — अपने अनुभव-क्षेत्र में

सदा कुछ नया जोड़ते चला जाय, उसको अधिक से अधिक विस्तार और अधिक से अधिक गहराई दी जाय। साहित्य की नित नयी विषय-वस्तु और जीवंत सर्जनात्मक भाषा, दोनों उसी में से मिलती हैं।

सृजन की भाषा की चर्चा करते समय एक और बात जिसका निराकरण करना मुझे आवश्यक लगता है, वह है कुछ लोगों की ऐसी धारणा या पूर्वग्रह कि लिखने की भाषा और होती है, बोलने की भाषा और। मैं ऐसा नहीं समझता। ऐसी बात होती तो बोलने की भाषा को भाषा और लिखने की भाषा को लेखा कहा जाता! मेरी तुच्छ बुद्धि में यह एक बहुत ही भ्रान्त धारणा है, जिससे निश्चय ही हमारे साहित्य का बड़ा अकल्याण हुआ है. अच्छी बात इतनी ही है कि हमारे अच्छे रचनाकारों ने इसको स्वीकारा नहीं। इसी भाषा-दृष्टि का आग्रह था कि हमारी भाषा अधिकाधिक संस्कृतनिष्ठ हो। मैं इसे बिलकुल ग़लत समझता हूँ। ऐसा कोई भी दुराग्रह हमारी भाषा को दरिद्र ही बना सकता है। अपनी भाषा-संपदा को छोटा करना, सीमित करना कौन-सी बुद्धिमानी है। हिन्दी को संस्कृत के खूँटे से ही बाँधकर रखनेवाली भाषा-दृष्टि कदाचित् हमारी भाषा के विकास-क्रम में जो प्राकृत और अपभ्रंश के लंबे-लंबे युग आये हैं उनको बिलकुल ही आँख से ओझल कर देती है। जैसे समय नहीं ठहरा रहता (ठहर जाता है तो बोरियत हो जाती है, जीवन दुःसह हो जाता है), पानी नहीं ठहरा रहता (ठहर जाता है तो सड़ जाता है), उसी तरह भाषा भी नहीं ठहरी रहती और ठहर जाती है तो ग्रान्थिक और निर्जीव हो जाती है। ग्रान्थिक और निर्जीव भाषा से संभव है शास्त्र-विवेचन किया जा सके (वैसे मुझे उसमें भी संदेह है), सर्जनात्मक साहित्य का सृजन नहीं किया जा सकता। सप्राण साहित्य का सृजन पानी की तरह बहती हुई सहज भाषा से ही किया जा सकता है, ऐसी भाषा से जो किसी शब्द के साथ छूत-छात नहीं बरतती। जो शब्द हमारी जबान पर है वो हमारा है, इससे बहस नहीं कि वह कहाँ से आया, कौन ले आया। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के उदयकाल में ही हमारी

बहुत-सी लोक-भाषाओं का उदय हुआ। मेरे यहाँ अवधी है, ब्रज है, भोजपुरी है; आपके यहाँ बुन्देली है, बघेली है, छत्तीसगढ़ी है। ये सभी बड़ी संपन्न भाषाएँ हैं। इनके मुहावरे, इनकी कहावतें, इनके लोक-गीत, इनकी लोककथाएँ जब तक हमारी केन्द्रीय हिन्दी का अंग नहीं बनतीं और हमारे रचनाकार अपने साहित्य में मुक्त भाव से उनका प्रयोग नहीं करते, तब तक हिन्दी अधूरी है। वही स्थिति उन अरबी-फ़ारसी शब्दों की है जो मुसलमानों के साथ हमारे देश में आये और हमारे देश की भाषा पंजाबी और हरयाणवी और खड़ी बोली के साथ मिलकर हिन्दी-हिन्दवी बने, जैसे अमीर खुसरो की भाषा या दकन के कुली कुतुब शाह और मुल्ला वजही और ढेरों दूसरे कवियों की भाषा या नानक और कबीर और नामदेव आदि हमारे संतों की भाषा। यदि कालान्तर में कुछ मतिभ्रष्ट लोगों ने इस सहज रूप से उत्पन्न और विकसित हिंदी-हिंदवी से परहेज़ किया क्योंकि उसमें हज़ारों हिन्दी-संस्कृत के और अन्य देशज शब्द थे और उर्दू-ए-मुअल्ला लाल क़िले की भाषा को उर्दू नाम देकर उसमें से हिंदी-संस्कृत शब्दों को निकाल बाहर किया और उनके स्थान पर हज़ारों नितान्त अप्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों की ठूँसठाँस की और करते रहे, यहाँ तक कि आज की उर्दू में उस पुरानी हिन्दी-हिन्दवी का कुछ भी शेष रह गया नहीं दिखायी पड़ता तो यह उनकी बात है, इसका भला-बुरा उनके सिर जायेगा, हम उनकी नक़ल में अपनी नाक कटाकर असगुन क्यों करें। वो सभी शब्द हमारे हैं जो हमारी भाषा में रच-बस गये हैं, हमारी ज़बान पर चढ़ गये हैं वो फिर चाहे संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द हों चाहे अरबी-फ़ारसी के तत्सम और तद्भव शब्द और चाहे हमारी लोकभाषाओं के। सब हमारे हैं। जो हमारी सामाजिक बोलचाल का शब्द है और जिसमें हमारा मर्म हमसे बोलता है, वो हमारा शब्द है, हम किसी क़ीमत पर उसे नहीं छोड़ सकते और छोड़ते हैं तो अपनी भाषा को तो दरिद्र बनाते ही हैं, अपनी आत्मा को भी दरिद्र बनाते हैं क्योंकि शब्द ही उस आत्मा का परिधान है।

ऐसे ही मार्मिक शब्द, स्पंदित शब्द, मांसल शब्द, ऊर्जित शब्द से

सृजन की भाषा बनती है। स्थावर, निष्प्राण शब्द रचनाकार के किस काम के। सृजन की भाषा बोलचाल की भाषा से दूर नहीं भागती, उसके अधिकाधिक पास पहुँचना चाहती है, यह और बात है कि निवेद्य वस्तु का संदर्भ उसे आप से आप उठा देता है, लेकिन तब वह उठना ऐसा होता है कि धरती का संस्पर्श बना ही रहता है। मर्म की बात मर्म की भाषा में ही कही जा सकती है।*

———

* यह व्याख्यान १६ मार्च १९७८ को रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर में दिया गया।

साहित्यकार और प्रतिष्ठान

आज के दिन आदमी के विवेक की बात करना भी हास्यास्पद लग सकता है। फ़ौरन पलटकर सवाल पूछा जा सकता है — आदमी का विवेक ? ये क्या चीज़ है ? कहाँ मिलती है ? हमने तो कहीं देखी नहीं !

ठीक बात है। प्रश्न बहुत सार्थक है और उसका जवाब देना उतना ही कठिन। संप्रति अपना देश जैसे चरित्र-नाश का परिचय चतुर्दिक् दे रहा है, आदमी का यह विवेक बहुत काम करता तो नहीं दिखायी पड़ता। लगता है आलस्य ने उसे घेर लिया है या कौन जाने वह सो ही गया हो। लोग जैसे भूल ही गये हैं कि जीवन के कोई नैतिक मूल्य भी होते हैं। सब बस अपने स्वार्थ के पीछे अंधे हो रहे हैं। चोरी-डाका, क़तल-खून — दिन दहाड़े कोई किसी को काटकर फेंक देता है, कहीं रात को सोते-सोते में ही परिवार का परिवार साफ़ कर दिया जाता है — ये सब ऐसी मामूली, रोज़ की घटनाएँ हो गयी हैं कि अब शायद लोगों का ध्यान भी उन पर नहीं जाता। उधर सब तरफ़ रिशवत का बाज़ार गर्म है, उसके बिना कोई काग़ज़ आगे बढ़ता ही नहीं। बड़ी भयंकर स्थिति है अपने समाज की। ऐसे में फिर कैसे कहा जाय कि आदमी के विवेक जैसी भी कोई चीज़ कहीं पर है। और तो और, बड़े-बड़े नामी-गरामी देश के नेता और विधाता भी, जिनके लिए उनका राजनीति का खेल ही सर्वोपरि है और जिसके आगे उन्हें देश के साधारण जन का कोई दुःख-कष्ट नहीं व्यापता, वो भी अपने आचरण में अपने सामाजिक विवेक का कोई उत्कृष्ट परिचय देते नहीं दिखायी पड़ते। आंध्रप्रदेश का जलप्रलय अभी कल की बात है। संपत्ति की जो हानि हुई उसको जाने दीजिए, संपत्ति फिर भी छोटी चीज़ है, लाख पचास हज़ार आदमी मर गये

—ठीक संख्या आज तक किसी को नहीं मालूम। बाद को जो तथ्य सामने आये उनसे पता चला कि राज्य-सरकार को इस आसन्न संकट की पूर्वसूचना मिल गयी थी — यह और बात है कि मुख्य मंत्री उस समय दिल्ली में बैठे अपनी राजनीतिक गोटियाँ बैठाने में लगे थे और उनके मुख्य सचिव ने उनको इस भीषण संकट की सूचना देना भी ज़रूरी नहीं समझा ! इतना ही नहीं, सेना के अधिकारियों ने उस मुख्य सचिव को यह भी बतलाया कि सेना ने लोगों को तटवर्ती इलाक़ों से निकालकर अधिक सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाने की पूरी व्यवस्था कर ली है और राज्य-सरकार की ओर से संकेत मिलते ही इस काम में लग जायेगी। लेकिन तब भी राज्य-प्रशासन के कान पर जूँ नहीं रेंगी और तूफ़ान आया और अपने पूर्वसूचित समय से आया और हज़ारों-हज़ारों लोगों की बलि ले गया। लेकिन फिर उनकी लाशों के दाह-संस्कार और जो इतने अभागे थे कि मरने से बच गये उनको यत्किंचित् राहत पहुँचाने को लेकर इस हृदय-विदारक नाटक का जो अंतिम अंक शुरू हुआ वह इतना जघन्य, इतना निर्लज्ज है कि शब्द उसे बता नहीं सकते। आये दिन ऐसा एक न एक प्रसंग उपस्थित रहता है जो हमारे चरित्र का कुछ ऐसा ही भयानक परिचय देता है। दुःख होता है ऐसी बातों की चर्चा करके भी लेकिन कोई चुप भी कैसे रहे, कहाँ तक रहे।

हमारे प्रधान मंत्री का विमान अभी कुछ महीने पहले, जोरहट में एक दुर्घटना का शिकार होता है जिसमें हमारे पाँच कि छ वैमानिक मारे जाते हैं और प्रधान मंत्री को खरोंच भी नहीं लगती। ऐसा कैसे हुआ ? इसलिए कि तेल चुक जाने पर जहाज़ जब गिरने लगा और उसे किसी तरह गिरने से बचाया नहीं जा सकता था तब हमारे उन बहादुर वैमानिकों ने अपने देश के प्रधान मंत्री का प्राण बचाने के लिए अपने प्राणों का कुछ मोह न किया और जहाज़ को इस तरह से ज़मीन पर गिराया कि उसका सारा आघात उन्हीं को लगे। और इस तरह वो मर गये और प्रधान मंत्री बच गये। थोड़ी ही देर बाद पत्रकारों ने जब उनसे भेंट की और दुर्घटना में से उनके बचकर

निकल आने पर हर्ष प्रकट किया तब प्रधान मंत्री ने बड़ी सादगी से मुस्कराकर कहा कि भगवान् ने उन्हें बचा लिया लेकिन शोक का, कृतज्ञता का एक शब्द उन पाँच-छ बहादुर नौजवानों के लिए नहीं जिन्होंने उन्हीं का प्राण बचाने के लिए अपने प्राणों की आहुति दी !

चलिए, मान लें कि उस समय वो भी मनसा कुछ न कुछ हिल गये रहे होंगे। लेकिन इसको क्या कहिए कि जब उन बहादुर वैमानिकों में से शायद दो की मृत देह दिल्ली पहुँची तो उनके प्रति सम्मान ज्ञापित करने को, उनके घरवालों के आँसू पोंछने को एक भी विशिष्ट व्यक्ति पालम के हवाई अड्डे पर मौजूद नहीं था—रक्षा मंत्री भी नहीं जिनके ही वो वैमानिक थे और प्रधान मंत्री भी नहीं जिनको बचाने के पीछे ही वो अपने छोटे-छोटे बच्चों, नौजवान पत्नियों और कच्ची गृहस्थी को छोड़कर इस दुनिया से चले गये ! शव-दाह के समय भी ये लोग मौजूद नहीं थे।

यह सारी कहानी समाचारपत्रों में आयी थी और उसका कहीं से खंडन भी नहीं हुआ, इसलिए मानना चाहिए कि वह सत्य है। मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये इस कहानी को पढ़कर और मैं स्तब्ध-सा बैठा रहा कुछ देर कि जैसे समझ ही न पा रहा होऊँ कि यह कैसी दुनिया है जिसमें मैं रह रहा हूँ और जिसमें किसी के दिल में आदमी का कोई दर्द नहीं है।

ऐसे में जहाँ कि सामाजिक जीवन में साधारण भद्रता भी न रह गयी हो वहाँ सामाजिक विवेक या कैसे भी विवेक या नैतिकता की बात करना निश्चय ही थोड़े दुस्साहस का काम है। तथापि मेरा आन्तरिक विश्वास है कि आदमी के विवेक जैसी कोई चीज़ होती है और ज़रूर होती है—भले किन्हीं बहुत बिगड़ी हुई और भयंकर रूप से ह्रासोन्मुख सामाजिक स्थितियों में उस पर गर्द पड़ गयी हो, राख पड़ गयी हो, और आदमी का वह विवेक बुझ चला हो, भोंथा पड़ गया हो, मुर्दार पड़ गया हो, भटक गया हो, सो गया हो, तब भी है और साहित्यकार का निवेदन अंततः आदमी के इसी विवेक के प्रति होता है। क्योंकि उसका विश्वास है कि सोये हुए को जगाया जा सकता है, भटके हुए को ठीक रास्ते पर लाया जा सकता है, मुर्दार

में फिर से जान डाली जा सकती है, भोंथे को फिर से सान पर चढ़ाकर ठीक किया जा सकता है, बुझते हुए दिये में फिर से एक नयी लौ पैदा की जा सकती है, राख और गर्द को झाड़ा जा सकता है। निष्ठावान् साहित्यकार नहीं मानता कि दुनिया में ऐसा कोई भी आदमी है जिसके पास विवेक की कोई भी संज्ञा शेष नहीं — और यह तो और भी नहीं मानता कि संपूर्ण देश में से या कि संपूर्ण जाति में से विवेक का लोप हो गया है या कि हो सकता है। भगवान् न करे लेकिन अगर कोई ऐसा दिन कहीं भी आता है तो समझ लीजिए कि उस देश या जाति की मृत्यु अब आसन्न है और कोई उसे रोक नहीं सकता। पर शायद कभी ऐसा दिन नहीं आयेगा और कहीं नहीं आयेगा क्योंकि विशाल बहुमत मेहनत-मजूरी करके जीवन-यापन करनेवाले साधारण जन का होता है जिनके पास वैसी कोई अन्धी महत्वाकांक्षाएँ नहीं होतीं जिनके चलते ही विवेक की सबसे अधिक हत्या होती है। अपनी साधारण दिनचर्या और अपने निकटतम परिवार और आत्मीय-स्वजन में लगे-लिपटे उनके जीवन के छोटे-मोटे संदर्भ ही ऐसे नहीं होते जो उन्हें अपने नैसर्गिक विवेक की हत्या करने के लिए अन्तःप्रेरणा दें। यह ठीक है कि उनके विवेक को भी हरदम घाव लगता रहता है पर उसका कारण उनके भीतर नहीं उनके बाहर होता है — अभाव में, विषम सामाजिक संरचना में, प्रतिकूल जीवन-स्थितियों में। इसीलिए उसका पहला और सबसे प्रमुख उपचार भी सामाजिक संरचना को सुधारने में ही मिलता है। समाज में ऐसी दारुण गरीबी न रहे, गरीब और अमीर के बीच ऐसा आकाश-पाताल का अन्तर न रहे और पैसे की तराजू पर तुलनेवाली सामाजिक प्रतिष्ठा न रहे तो चोरी-डाका खून-क़तल दसवाँ हिस्सा रह जायेगा। इसलिए मैं मानता हूँ कि स्थिति संप्रति जितनी भी ख़राब हो, असाध्य नहीं है। और अगर मान लीजिए स्थिति असाध्य भी हो तो क्या किसी असाध्य रोग के रोगी को मरने के लिए छोड़ दिया जाता है?

पर आप अपने भीतर झाँककर देखिए, ऐसी कोई निराश स्थिति नहीं है। जीवन की विवशताएँ हमसे बहुत से ग़लत काम करवाती

हैं और हम उन्हें करते हैं लेकिन करते वक़्त भी हमारे मन के किसी कोने से एक आवाज़ उठती है कि यह काम ग़लत है, हमें नहीं करना चाहिए या कि यह काम ग़लत था, हमें नहीं करना चाहिए था। वही हमारा विवेक है। मानना चाहिए कि वही हमारे भीतर किसी ऐसी शक्ति का अंश है, जिसके लिए दूसरा कोई विशेषण हमारे पास न होने के कारण हम उसे दैवी पुकारते हैं क्योंकि इस संसार को हम जैसा कुछ देखते और जानते हैं उसे मात्र पार्थिव कहने को जी नहीं चाहता।

बड़ा सूक्ष्मदर्शी आदमी था जिसने पिंड में ब्रह्माण्ड की कल्पना की क्योंकि मनुष्य का यह पिंड स्थूल आकार को छोड़कर दूसरे किसी अर्थ में ब्रह्माण्ड से घटकर नहीं है, उतना ही विराट् अपने छोटे से कलेवर में और उतना ही सूक्ष्म अपने समस्त व्यापारों में — उतना ही अगम, अथाह और अज्ञेय, कि जैसे उस विशाल ब्रह्माण्ड की एक छोटी मगर पूर्णतम अनुकृति हो। मानता हूँ कि विवेक भी मन की और सब वृत्तियों की ही तरह एक वृत्ति है लेकिन सवाल तो ये है कि आदमी अपने मन को ही कितना जानता है और कितना जान ही पायेगा किसी रोज़ जब कि अभी वह अपने शरीर के अपेक्षाकृत स्थूलतर अंगों की संरचना और उनके क्रिया-कलाप के सम्बन्ध में भी बहुत मोटी-मोटी बातें ही जान सका है। ठीक है कि नैतिकता-बोध का ही दूसरा नाम विवेक भी है, लेकिन प्रश्न तो ये है कि उसका उद्गम आदमी के अन्दर कब से और कहाँ से होता है? यह मानने को जी नहीं करता कि उसका उदय व्यक्ति के अन्दर धीरे-धीरे, वय प्राप्त होने पर, समाज के प्रभाव से होता है क्योंकि समाज की जो वर्तमान स्थिति है उसमें अनेक प्रकार के अनैतिक प्रतिष्ठानों का ही राजत्व अधिक दिखलायी पड़ता है। फिर यह कैसे संभव है कि जो स्वयं अनैतिक है उसके प्रभाव में व्यक्ति के अन्दर नैतिकता-बोध का उदय हो? सभी धर्मग्रन्थों में नैतिकता पर बहुत बल दिया गया है लेकिन उन धर्मग्रन्थों का हमारे दैनंदिन जीवन पर कितना प्रभाव है, यह संदिग्ध है। पाठशालाओं के शिक्षा-क्रम में सम्मिलित नैतिकता के पाठों की भी वही स्थिति है। इसलिए मुझे तो यह मानना ही

अधिक संगत लगता है कि बच्चा जिस अर्थ में देह और मन दोनों से ही एक पूर्ण व्यक्ति होता है, भले वह उसका लघु और अविकसित संस्करण हो, उसी अर्थ में वह मन के और सब आयामों के साथ-साथ विवेक का आयाम भी बीज रूप में अपने भीतर लिये रहता है, बस एक संज्ञा उसकी, वैसे ही जैसे सौन्दर्य की संज्ञा और झूठ-सच की संज्ञा भी उसे होती है। सुन्दर फूल और सुन्दर मुखड़ा तो जाने ही दीजिए, बच्चा सुन्दर मन को भी पहचानता है, कौन उसे सचमुच प्यार करता है और कौन केवल प्यार का अभिनय कर रहा है, यह भी पहचानता है। उसे धोखा देना बहुत कठिन है. इस प्यार के मामले में— भले कोई किसी बड़े आदमी को अपने प्यार के अभिनय से धोखा दे ले क्योंकि उनके बीच तो जीवन के अनेकानेक व्यापारों में यही अभिनय उनके बीच आपसी लेन-देन की स्वीकृत मुद्रा होती है जिसमें कभी कोई और कभी कोई धोखा खा ही सकता है। बच्चे की उस आदिम प्यार की संज्ञा के संग ऐसे कोई आश्लेष, ऐसी कोई लगावट नहीं होती इसलिए वहाँ सच्चे प्यार का वह खरा सिक्का ही चल सकता है। वही बात झूठ-सच की भी है। बच्चा जब झूठ बोलता है तब वह या तो उसे अपनी कल्पना में सच मानकर ही बोलता है या फिर डाँट खाने या मार खाने के डर से झूठ बोलता है लेकिन सत्य क्या है इसकी संज्ञा उसे रहती है और इसीलिए झूठ बोलने की ग्लानि भी उसके मन में रहती है जो धीरे-धीरे कालान्तर में उसके अस्वस्थ चारित्रिक विकास का कारण बनती है। मेरा विश्वास है कि जिन बच्चों से केवल प्यार की भाषा में बोला जाता है. क्योंकि बच्चा वही एक भाषा समझता है, और कोई अप्रिय स्थिति उत्पन्न होने पर उनसे भय या आतंक की भाषा में बात न करके उनके विवेक के प्रति निवेदन किया जाता है, उनका बहुत सुन्दर और स्वस्थ विकास होता है।

कहने का अभिप्राय ये कि मेरे निकट मनुष्य का विवेक एक ऐसा सत्य है जिसे कुछ भी झुठला नहीं सकता। उसकी आवाज़ सुनना हम भूल गये हों या वही बोल-बोलकर थकता जाता हो और अपने बोलने की व्यर्थता के बोध से उसकी आवाज़ मन्द पड़ती जाती हो,

तो भी वह सत्य है क्योंकि मैं उसका सजीव प्रमाण अपने भीतर पाता हूँ और हर व्यक्ति अपने भीतर कान लगाने पर पायेगा। उसके विकार पूर्णतया नहीं तो अधिकांशतः बाह्य स्थितियों में से पैदा होते हैं। उनको बदलना ज़रूरी है। इसके लिए भी आदमी के उसी विवेक को जाग्रत करना है। यही काम साहित्य का है। साहित्य समाज को बदलता है, उसको बदलनेवाली जो शक्ति है, व्यक्ति, उसके विवेक को जगाकर और सन्नद्ध करके। लेकिन साहित्य इस काम को कर सके, इसके लिए आवश्यक है कि साहित्यकार का अपना विवेक स्वस्थ और सबल हो। जो साहित्यकार स्वयं छोटे-छोटे प्रलोभनों में पड़कर, अपने विवेक का सौदा या अपने विवेक के साथ उल्टे-सीधे समझौते करता फिरता रहा हो, उससे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह दूसरे के विवेक को कुछ भी शक्ति पहुँचा सकेगा।

साहित्यकार का यह विवेक उसके सौन्दर्यबोध, उसके सत्यबोध उसके शिवाशिव-बोध की त्रिवेणी का ही नाम है। उसी में वह नहाता है और उसी का पानी अपने सिर-माथे चढ़ाता है। वही उसको आन्तरिक शक्ति देता है। वही उसका देवाधिदेव है। उससे अलग दूसरे किसी प्रतिष्ठान की वह पूजा नहीं करता।

प्रतिष्ठान बहुत तरह के होते हैं। सबसे पहले तो धर्म का प्रतिष्ठान है। धर्म जहाँ तक व्यक्ति की और समाज की नैतिकता का प्रतिमान उपस्थित करता है वहाँ तक प्रणम्य है लेकिन देखा जाता है कि धीरे-धीरे उसकी मूल प्रेरणा की स्फूर्ति छीजने लगती है, धर्म की आत्मा सूखने और सिकुड़ने लगती है और उसका बाह्याचार प्रमुख होता चला जाता है, जिसको कदाचार बनते देर नहीं लगती, क्योंकि इस बाह्याचार के साथ बहुत से निहित स्वार्थ आकर जुड़ते चले जाते हैं, जो ही धीरे-धीरे प्रतिष्ठान का रूप ले लेते हैं। ये प्रतिष्ठान फिर अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए नाना प्रकार के विधि-निषेधों के प्राचीर खड़े करते हैं जिनका सम्बन्ध धर्म से नहीं इन प्रतिष्ठानों की सुरक्षा से होता है। और तभी फिर यह प्रतिष्ठान ईश्वर को अपने ताले में बन्द करके उस कोठरी के आगे

धर्मगुरु, महंत, पंडे और पुरोहित के रूप में आकर बैठ जाता है, अर्थात् वही अब वह माध्यम है जिसको बीच में डाले बग़ैर ईश्वर तक नहीं पहुँचा जा सकता, स्वर्ग में प्रवेश नहीं मिल सकता, मोक्ष या निर्वाण नहीं मिल सकता। और धर्मगुरु यहीं बैठकर और अपनी मनचाही फ़ीस लेकर स्वर्ग में हमारी-आपकी सीट रिज़र्व करने लगता है। और इस प्रकार धर्म प्रतिष्ठान में रूपान्तरित होते ही एक व्यवसाय बन जाता है। व्यवसाय बनते ही एक ही धर्म में से कितने ही मत-मतान्तर निकल आते हैं, क्योंकि सभी महांतकांक्षियों को अपनी एक गद्दी चाहिए !

धर्म जब तक व्यक्ति की आचार-संहिता था और जब तक व्यक्ति और उसके भगवान् के बीच कोई माध्यम अनावश्यक था, आदमी की सीधी पहुँच अपने भगवान् तक थी, तब तक एक बात थी, व्यक्ति के अपने आत्मिक संतोष की एक बात, उसके पीछे जो भी हो, एक सरल सी जिज्ञासा, एक सरल सी आस्था, अपने चोले से बाहर किसी महत् शक्ति, परा-शक्ति, से एकात्म होने की ललक, एक सहज आस्तिकता व्यक्ति-मन की जो अपने चारों ओर इस अनंत रहस्यमयी सृष्टि से घिरा हुआ है जो उसकी तर्क-बुद्धि तो क्या कल्पना से भी परे है। जो हो, यह उसकी निजी बात थी और उसमें कोई उलझाव नहीं था। इसीलिए यह भी देखने में आता है कि उस स्तर पर सभी धर्म, अपने उस आदि रूप में, बहुत कुछ समान हैं। सच बोलो, झूठ मत बोलो, हिंसा मत करो, चोरी मत करो, सबसे मीठा बोलो, सबके साथ अच्छा आचरण करो जैसा तुम चाहोगे कि दूसरा तुम्हारे साथ करे, धन का लोभ मत करो, अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह मत करो, ज्ञानी का सम्मान करो, प्रार्थी को दान करो, वसुधा को एक कुटुंब समझो, दूसरे की स्त्री को वासना-लोलुप आँखों से मत देखो, आदि सभी बातें ऐसी हैं जो व्यक्ति को मनुष्य के रूप में श्रेष्ठतर तो बनाती ही हैं, समाज को एक सूत्र में बाँधने का भी काम करती हैं। लेकिन जब कालान्तर में, जैसा कि मैंने अभी आपसे निवेदन किया था, धर्म का स्थान धर्म के अनेकानेक प्रतिष्ठान ग्रहण कर लेते हैं तब

धर्म का यह सजीव, शुभ और स्वस्थ पक्ष गौण हो जाता है और यह विलक्षण स्थिति सामने आती है कि जो अपने बाह्याचार में सबसे अधिक धार्मिक है वही धर्म के सच्चे और मूल अर्थ में सबसे अधिक अधार्मिक होता है। वह प्रेम से झूठ बोलता है, डटकर रिश्वत खाता है, लोगों की जमा मारता है, सब-सब छल-कपट करता है लेकिन उसके धर्म पर कहीं कोई आँच नहीं आती — उसके धर्म के पास, जिसकी आत्मा मर चुकी है और जो अब केवल धर्म का एक व्यापारिक प्रतिष्ठान है, हर चीज़ का उपचार मिल जाता है। तभी फिर मनुष्य का विवेक विद्रोह करता है और धर्म के सुधारक सामने आते हैं। ये धर्म के सुधारक और विद्रोही चाहे आर्यसमाज और ब्राह्मो समाज जैसे आन्दोलन हों और चाहे मुसलमान सूफ़ी और ईसाई मिस्टिक और चाहे कबीर-नानक-दादू-रैदास जैसे निर्गुनिया संत, उनकी विद्रोहधर्मिता में मात्रा-भेद होते हुए उनकी गति की दिशा फिर उसी आदिकालीन धर्म की ओर लौटने की होती है जब धर्म अधिक ऋजु था और उसके ये अनेकानेक प्रतिष्ठान नहीं बने थे; जब धर्म मुख्यतः व्यक्ति और समाज की एक नैतिक आचार-संहिता था, बाह्याचार था भी तो बहुत कम था, और जब धर्म ऊँच-नीच सबको एक साथ अपने भीतर समेटता था, किसी को नीच कहकर उसका तिरस्कार नहीं करता था। स्वामी दयानन्द का वैदिक धर्म की ओर और ब्राह्मो समाज के केशवचन्द्र सेन आदि का उपनिषद्-कालीन धर्म की ओर प्रत्यावर्तन इसी बात की ओर संकेत करता है।

लेकिन ऐसा भी बहुत बार देखने में आता है कि जो एक समय विद्रोह करता है, वही कालान्तर में रूढ़िपंथी बन जाता है। जैसे कि कबीर ने तो आजीवन धार्मिक रूढ़ियों का प्राणपण से विरोध किया लेकिन कबीर के मरते ही कबीर-पंथ चल निकला और देखते-देखते स्वयं एक रूढ़ि बन गया। बुद्ध ने बार-बार अपने शिष्यों से कहा कि मेरी बात को आप्त वाक्य मानकर मत स्वीकार करो. उसे पहले अपनी बुद्धि की कसौटी पर रखकर परखो, लेकिन किसके पास इतनी समाई थी — परिणाम यह हुआ कि उनके मरते ही घर-घर में उनकी पूजा

होने लगी और सारा देश बुद्ध की मूर्तियों से भर उठा। यह जो चिन्मय के कालान्तर में मृण्मय बन जाने की प्रक्रिया है, इसे स्वीकार किये बिना शायद गति नहीं। इसलिए कहना होगा कि साहित्यकार के विवेक के लिए कहीं कोई विश्राम नहीं है, उसे तो हरदम संतरी की तरह जागते ही रहना है और आवाज़ लगाते रहना है। और जब तक उसका विवेक जाग रहा है और कर्म-तत्पर है तभी तक मानना चाहिए कि वह साहित्यकार अभी जीवित है। और जब तक वह जीवित है तब तक साहित्यकार के नाते उसका धर्म है कि जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों के समान धर्म के क्षेत्र में भी अपनी मूल मानवतावादी प्रतिज्ञा के अनुसार, अपने मुक्त विवेक के आलोक में, धर्म की आत्मा की रक्षा करते हुए धार्मिक प्रतिष्ठानों को निस्संकोच अमान्य करे और केवल उन तत्वों का आकलन करे जो मानव-जाति के लिए सत्य हैं, शिव हैं और सुन्दर हैं; जो आदमी को आदमी से बाँटते नहीं, जोड़ते हैं, जो मनुष्य जाति को युद्ध और विग्रह की ओर नहीं, शान्ति की ओर ले जाते हैं, हिंसा और रक्तपात की ओर नहीं, प्रेम और सद्भावना की ओर ले जाते हैं, जिनकी समदृष्टि एक आदमी और दूसरे आदमी में ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं करती और सबको समान मानती है और जो सब धर्मों से ऊपर मानव धर्म को मानते हैं।

दूसरा बड़ा प्रतिष्ठान समाज है—समाज के आचार-विचार, समाज की मान्यताएँ। लेकिन इस समाज नामक प्रतिष्ठान के साथ एक बड़ी कठिनाई ये है कि वह धार्मिक प्रतिष्ठानों के समान कोई साकार चीज़ नहीं है, वह तो एक हवा, एक माहौल का नाम है। समाज में तो छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, बुड्ढे-जवान सभी रहते हैं, तब कैसे कहा जाय कि समाज के प्रतिष्ठान से हमारा अभिप्राय अमुक से है। लेकिन जैसा कि हम चर्चा कर रहे थे, यह कहना ठीक माना जाय कि प्रतिष्ठान इसलिए प्रतिष्ठान है कि वह गतिशीलता के स्थान पर जड़ता और विवेक के स्थान पर अन्धविश्वास को प्रतिष्ठित करता है या यों कहें कि प्रतिष्ठान इसलिए

प्रतिष्ठान कहलाता है कि उसके अन्दर सब शक्ति-सम्पन्न परिवर्तन-विरोधी तत्व प्रतिष्ठित रहते हैं; दोनों ही स्थितियों में प्रतिष्ठान का गहरा सम्बन्ध शक्ति-संवलित जड़ता और रूढ़िप्रियता से है। इन जड़ सामाजिक रूढ़ियों का कोई पुंजीभूत रूप किसी विशेष सामाजिक संस्था में साकार होकर हमारे सामने आ रहा हो, ऐसा कम देखने में आता है। यहाँ तो यह देखने में आता है कि समाज में मुर्दा रूढ़ियाँ और नयी चिन्ताधाराएं, नये जीवन-मूल्य भी उसी प्रकार साथ-साथ रहते हैं जिस प्रकार सभी श्रेणियों, सामाजिक स्थितियों, संप्रदायों और अवस्थाओं के लोग उसमें रहते हैं। इस अर्थ में समाज का जो रूढ़िग्रस्त प्रतिष्ठान है वह यहाँ-वहाँ, सब तरफ़, सबके बीच और सबके अन्दर बिखरा पड़ा है। हम-आप कोई इस प्रतिष्ठान से बाहर नहीं हैं : जहाँ हम अपने कुछ चिराचरित विश्वासों और रूढ़ियों से बँधे रहने में ही अपनी कुशल देखते हैं वहाँ हम भी उसी प्रतिष्ठान का ही एक उपनिवेश हैं।

मेरी लड़की अपनी जात के बाहर किसी लड़के से प्यार करती है। मैं जानता हूँ कि लड़का अच्छा है, चरित्रवान् है, उसका प्यार सच्चा है और मेरी लड़की उसके संग सुखी रहेगी लेकिन मैं उस लड़के से अपनी लड़की को ब्याहते डरता हूँ — समाज क्या कहेगा! वैसे ही अगर मेरा लड़का जात के बाहर किसी लड़की से प्यार करता है, जिस लड़की के शील के सम्बन्ध में हमें कोई सन्देह नहीं है क्योंकि हमने उसे बचपन से देख रखा है, तो भी उसके साथ अपने लड़के का ब्याह रचाने में वही बाधा आती है — समाज क्या कहेगा! (अब कोई अगर मुझसे पूछे कि यह समाज कमबख़्त कौन है और किस शहर में किस गली में रहता है तो मैं बता न सकूंगा, लेकिन तो भी वो है और जाने कैसे अपना असर डालता है कि कोई नया-सा काम करने उठिए, जिसका अभी चलन नहीं हुआ, तो वह आड़े आता है!)

घर में खाना पकाने के लिए न कोई महराज मिल रहा है और न कोई ग़रीब विधवा ब्राह्मणी। एक कहारिन मिल रही है। बहुत साफ़-सुथरी है लेकिन अपनी जात को बेचारी क्या करे। मेरा जी उसे रख लेने को करता है लेकिन फिर वही डर, समाज क्या

कहेगा ! घर के बड़े-बूढ़े तो उसके हाथ का छुआ खाने से रहे !

किसी की लड़की भरी जवानी में विधवा हो जाती है, उसके पति का स्कूटर ट्रक से भिड़ जाता है और वहीं का वहीं बेचारा अपनी जान से हाथ धो बैठता है। अब माँ-बाप अपनी जवान लड़की को देखते हैं और घुलते रहते हैं — कैसे कटेगी बेचारी की ज़िन्दगी ! कितनी ही बार उनके मन में आता है कोई योग्य वर देखकर उसकी दुबारा शादी कर दें लेकिन हिम्मत नहीं पड़ती, समाज क्या कहेगा !

किसी कुँआरी लड़की या किसी विधवा लड़की का किसी से प्रेम हो जाता है और उसके गर्भ रह जाता है। बात जब घर के अन्दर खुलती है तो माँ-बाप सिर पकड़कर बैठ जाते हैं, अब क्या होगा ! टोले-पड़ोस वाले जान जायेंगे तो हमें मरने को ठौर नहीं मिलेगी ! बापजान तैश में आकर लड़की का खून तक कर देने की सोचते हैं पर माँ जैसे-तैसे उन पर कुछ ठंडे छींटे डालती है। उधर लड़की अपनी कोठरी में बन्द सोच रही है, कहाँ से थोड़ी-सी संखिया मिले और मैं खाकर सो रहूँ।

नौकरीपेशा निम्न मध्यमवित्त परिवार है। घर में एक नहीं दो नहीं पाँच-पाँच लड़कियाँ हैं लेकिन तराज़ू में उनके साथ रखकर तौलने को पास में कुछ नहीं — यह सब जानते हैं कि राज्य के विधि-मंत्रालय के आदेशानुसार दहेज की प्रथा अवैध हो तो हो लेकिन समाज के विधि-मंत्रालय के आदेशानुसार दहेज दिये बिना कोई विवाह नहीं हो सकता, समाज का अपना अलग ही क़ानून चलता है ! परिणाम होता है कि उधर पिताश्री रिटायरमेंट के पास पहुँच रहे हैं और इधर एक पर एक लड़कियों की पूरी एक लैनडोरी लगी है जिनकी शादी को अब बहुत देर हो रही है। घर में दाँता-किलकिल मची रहती है। आसपास के कुछ लुच्चे-लफ़ंगे ताक-झाँक भी करने लगे हैं। माँ-बाप के प्राण नहों में समाये रहते हैं, राम जाने तक़दीर में क्या लिखा है। लेकिन वो न तो उन लड़कियों के हाथ पीले करने को पैसे जुटा पाते हैं और न लड़कियों को ही इसकी छूट देने को तैयार हैं कि वो कहीं कुछ काम-धाम करें और

किसी से मन मिलने पर खुद ही अपना ब्याह कर लें। सब तरफ़ समाज अपना डंडा और अपनी बर्छियें लिये खड़ा है।

बड़ी विचित्र चीज़ है ये समाज। उसको किसी के दुःख-कष्ट में कभी काम आते तो कम ही देखा है — कोई ग़रीब, साधनहीन परिवार, पूरे का पूरा, किसी दिन ज़हर खाकर सो जाता है लेकिन समाज के कान पर जूँ नहीं रेंगती और न उसे एक बार यह ख़याल आता है कि उन मरनेवालों के प्रति उसका भी कुछ कर्तव्य था जो कि उसने पूरा नहीं किया — लेकिन उसकी मुर्दा रूढ़ियों के चौखटे या बाड़े में से कोई कभी बाहर आने का साहस न करे, इसके लिए उसकी चौकसी पूरी है।

साहित्यकार को उसी से लड़ना है, समाज नामधारी उसी निष्ठुर प्रतिष्ठान से जो केवल अपनी रूढ़ियों का रक्षक-संरक्षक है। यहाँ भी साहित्यकार के लिए उसका विवेक ही उसका मार्गदर्शक होता है। वह स्वयं, नये से नये ज्ञान-विज्ञान और अपने जीवन-अनुभव की पीठिका में, विचार करता है कि कहाँ पर अन्याय हो रहा है, अविचार हो रहा है, क्या सच है और क्या झूठ। शील और मर्यादा की बड़ी-बड़ी बातों के मोहक अवगुंठनों में लिपटा हुआ अन्याय फिर भी अन्याय है। जो समाज एक ओर सत्तर बरस के बुड्ढे को खुशी-खुशी उसके तीसरे, चौथे और हज़ारवें ब्याह की अनुमति देता है और दूसरी ओर सत्रह बरस की जवान विधवा लड़की को आजीवन ब्रह्मचर्य और संयम का पाठ पढ़ाता है और कभी कोई एक भूल हो जाने पर उसे भयंकर से भयंकर दंड देना उचित मानता है, वह एक झूठा और दुरंगा, अन्यायी और वंचक समाज है।

उसी तरह जिस समाज की दृष्टि में एक विद्वान् हरिजन भी केवल इसलिए हेय है कि वह एक तथाकथित नीच कुल में उत्पन्न हुआ है और एक निरक्षर ब्राह्मण भी पूजनीय, केवल इसलिए कि वह एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है, उसे आप हास्यास्पद कहें या दयनीय या निर्लज्ज, एक ही बात है। इतना ही नहीं जिस समाज की नाक इतनी सड़ गयी है कि उसे अपने इस सब छूत-अछूत में कहीं कोई दुर्गन्ध नहीं मिलती, उसकी ज़िन्दगी के दिन पूरे हो गये।

भीतर ही भीतर खोखला हो जाने पर समाज को बिखरते और मिटते देर नहीं लगती, वैसे ही जैसे नदी के कगार ढहते हैं, और जब वो ढहते हैं तब पता चलता है कि पानी मरते-मरते सब कुछ भीतर ही भीतर कितना भुसभुसा हो गया था !

उसी तरह अपने समाज में धन की जो प्रतिष्ठा है — भले वह किसी का गला दबाकर, किसी की खाल उधेड़कर, किसी की जमा मारकर या जिस भी छल-प्रपंच से आया हो, समाज को उससे कुछ मतलब नहीं; धन का होना ही अपने में पूर्ण सत्य है ! — यह भी उस 'समाज' नामधारी प्रतिष्ठान की ही लीला है और समाज के पतन का अकेला सबसे बड़ा कारण है। जात-पाँत, छूत-छात, ऊँच-नीच, सब उसी प्रतिष्ठान के खेल हैं। कहना न होगा कि निष्ठावान् साहित्यकार कभी उसका साथ नहीं दे सकता। जीवन के नये, सुन्दर और सार्थक मूल्य गढ़ने का काम उसी का है, मुर्दा रूढ़ियों और उनके प्रतिष्ठान का पृष्ठपोषण करके वह कहाँ पहुँचेगा।

तीसरा बड़ा प्रतिष्ठान राजनीति का है। अनेक दल अनेक मत-वाद। उनके संगठन, उनके आन्दोलन, उनका प्रचार। अधिकतर एक का दूसरे से वैर का, अनबन का, चढ़ा-ऊपरी का सम्बन्ध। लेकिन सब राजनीतिक दलों की स्थिति एक नहीं होती; कोई एक सत्ताधारी दल होता है और उसके प्रतिपक्ष में अनेक सत्ताकामी दल होते हैं। चूंकि राजनीति भी एक तरह का युद्ध है और युद्ध में सभी कुछ उचित माना जाता है अतः प्रत्येक दल अपने को ही सर्वाधिक लोकहितैषी और न्यायपूर्ण अर्थात् श्रेष्ठतम और अन्य सबको शिष्ट शब्दावली में झूठा और बेईमान कहकर प्रचारित करता है। सभी दलों के पास अपना शक्तिशाली प्रचारतन्त्र होता है, फलतः वायुमंडल नाना प्रकार के विरोधी स्वरों से भर उठता है। साहित्यकार नागरिक भी होता है, अतः राजनीति में उसकी रुचि हुई तो वह अपनी रुचि के अनुसार किसी दल की सदस्यता भी ले लेता है। उसमें कोई अनौचित्य भी नहीं, इस एक बात को छोड़कर कि तब उसकी सहज प्रवृत्ति अपने ही दल को सोलह आने या सौ पैसे ठीक और बाक़ी सबको ग़लत मानने की हो जाती है — जो उसके लिए साहित्यकार के नाते बहुत काम्य स्थिति

नहीं क्योंकि वह उस सीमा तक अपने विवेक को अपने दल के हाथ बंधक रख देता है। सत्ताधारी दल के साथ तो जैसे वह जुड़ ही नहीं सकता क्योंकि वह गद्दी पर बैठते ही पूरम्पूर प्रतिष्ठान वन जाता है जहाँ खुशामदी दरबारियों और स्वार्थसाधकों की भीड़ लगी रहती है, उस भीड़ में सच्चे साहित्यकार का क्या काम, अर्थात् यदि वह एक सच्चा साहित्यकार बने रहना चाहता है और अपने पीछे ऐसा काम छोड़ जाना चाहता है जो उसके बाद भी जिये। लेकिन प्रतिपक्ष के साथ जुड़ने की स्थिति में भी उसके लिए अपने विवेक को मुक्त रखना नितान्त आवश्यक है क्योंकि उसके लिए अपनी दृष्टि को पूर्वग्रहों से मुक्त रखना ज़रूरी है और कोई राजनीतिक दल ऐसा नहीं है जो पूर्वग्रहों से मुक्त हो। पूर्वग्रहों से भी मुक्त नहीं और पद और प्रभुता की लोलुपता से भी मुक्त नहीं। इसलिए कि राजनीतिज्ञ की महत्वाकांक्षा, जन-सेवा और मुक्ति-संग्राम का अध्याय शेष होकर सत्ता अपने हाथ में आने पर, बहुत बार इसी रूप में अपना निकास पाते देखी जाती है। वहीं से राजनीतिज्ञ के चारित्रिक पतन का आरम्भ होता है, और फिर धीरे-धीरे सारा राजनीतिक वायु-मंडल ही दूषित हो जाता है, किसी एक दल का आदमी अगर आज गद्दी पर बैठा है तो दूसरे दल का आदमी कल उस गद्दी पर वैठने का सपना देख रहा है ! फिर कहाँ का मुक्त विवेक और कहाँ किन्हीं महत् जीवन-मूल्यों के प्रति समर्पण का भाव। वो सब वीते दिनों की बातें हैं। अब तो राजनीति ही उसकी आजीविका है, उसका धंधा, उसका कैरियर-- जिसका दूसरे सभी धंधों के समान अपना शास्त्र होता है; देखते-देखते वह उसे अच्छी तरह सीख लेता है, वही चिकनी मुस्कराहट, वही सब दाँव-घात और वही द्वयर्थक बातें जिनकी कहीं पकड़ नहीं। इसलिए यह कहना शायद ठीक होगा कि निष्ठावान देशसेवा की सर्मपित राजनीति को छोड़कर, जिसमें केवल अपने को देना होता है और पाना कुछ भी नहीं, राजनीति मात्र संप्रति अपने ढंग का एक प्रतिष्ठान बनती जा रही है जो बहुत विनाशकारी है। लेकिन जब तक राजनीतिज्ञों की भी कोई आचार-संहिता नहीं बनती, जो सचेतन जनमत के प्रभाव से ही बन सकती

है, तब तक यही स्थिति रहनेवाली है। यह खरीदे और बेचे जानेवाले वोटों की और गद्दी की राजनीति, निश्चय ही मूल्यों की राजनीति नहीं, आत्मदान की राजनीति नहीं, जो राजनीति होने के नाते राजसत्ता को बदलना तो ज़रूरी समझती है लेकिन अपना घर भरने के लिए नहीं, देश का और समाज का कायाकल्प करने के लिए।

ऐसी उलझी हुई स्थिति में साहित्यकार के लिए कदाचित् यही श्रेयस्कर होगा कि वह राजनीति में अपनी भरपूर रुचि रखते हुए भी किसी दल से संयुक्त न होकर, अपने विवेक को मुक्त रखते हुए शासन-सत्ता के चिरंतन प्रतिपक्ष के रूप में जनता के सचेतक का काम करता रहे। मैं यह नहीं कहता कि साहित्यकार का विवेक सदा निर्भूल और निर्भ्रान्त ही होगा, वह भी किसी समय भूल कर सकता है, लेकिन दूसरों की अवसरवादी राजनीति को ओढ़ लेने से अपनी भूल का जोखिम उठाना अच्छा है। इसलिए और भी कि साहित्य राजनीति का अनुचर नहीं उसके आगे-आगे चलनेवाली मशाल होता है — और इस मशाल में रोशनी भी तभी तक रहती है जब तक साहित्यकार का अपना विवेक प्रकाशित है।+

+ यह व्याख्यान १७ मार्च, १९७८ को रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर में दिया गया।

साहित्य और राजनीति

राजनीति बहुत बदनाम शब्द है। था नहीं, कम से कम इतना नहीं, पर आज तो उसका मतलब है शुद्ध स्वार्थ, इस या उस छोटी या बड़ी गद्दी के लिए की गयी छीनाझपटी, मारधाड़, अपने को ऊपर उठाने और विरोधी को नीचे गिराने के लिए किये गये सब-सब छल-प्रपंच। स्पष्ट है कि साहित्य इस राजनीति का पक्षधर नहीं — लेकिन उसका पक्षधर न होकर भी वह उससे निस्संग या निर्लिप्त रहने की भंगिमा बनाकर उससे भाग नहीं सकता और भागता है तो कहीं अपने साहित्यकार के धर्म से च्युत होता है। जन-जीवन को प्रभावित करनेवाली किसी भी चीज़ से वह अलग या दूर नहीं रह सकता। आज यदि हमारे सामाजिक जीवन का यह एक सत्य है कि इस कुत्सित राजनीति की गुंजलक में पड़कर देश की हड्डी-पसली चूर हुई जा रही है और किसी के पास कान हों तो वह उसकी उल्टी साँसें चलते भी सुन सकता है, तो साहित्यकार कैसे अपने को इस सबसे अलग या ऊपर मानकर अपने एकान्त में बैठ सकता है ? और अगर बैठता है तो उसका साहित्य झूठा पड़ जायेगा, क्योंकि उसमें अपने युग का एक केन्द्रीय तथ्य यह अभिशप्त राजनीति न होगी।

मैं यह नहीं मानता कि आज देश की जो अत्यंत शोचनीय स्थिति है, उसका कारण यह है कि यहाँ का आदमी बुनियादी तौर पर गया-बीता है। मेरा यह विश्वास है कि यहाँ का आदमी उतना ही अच्छा और बुरा है जितना दुनिया के किसी भी दूसरे देश का आदमी। इतना ही नहीं, मेरा यह भी विश्वास है कि आदमी, किसी भी देश का, बुनियादी तौर पर अच्छा होता है। बुराइयाँ उसके अन्दर पैदा होती हैं जीवन की बाध्यताओं में से। ये बाध्यताएँ निकलती हैं

समाज-व्यवस्था में से और अंततः राज्य-व्यवस्था में से । और राज्य-व्यवस्था जो है और उसको बदलने के लिए जो भी आन्दोलन या संघर्ष किया जाता है, वही राजनीति की भूमि है। फिर कैसे राजनीति से उपराम होकर बैठा जा सकता है। साहित्य के लिए तो इस प्रकार का वैराग्य और भी कठिन है क्योंकि उसका तो सारा खेल ही आदमी के दुख-दर्द और उसके सोचने-विचारने को लेकर है। मेरा मतलब गंभीर साहित्य से है अर्थात् उस साहित्य से जिसके केन्द्र में आदमी होता है, अपने सब दुख-सुख समेत, जिसके साथ साहित्यकार का गहरा लगाव होता है, अपनेपन का, जहाँ फिर दोनों के बीच कोई दरार या फाँक नहीं रह जाती। निश्चय ही एक दूसरे प्रकार का साहित्य भी होता है जो केवल अर्थागम के लिए लिखा और छापा और बेचा जाता है। उसे लोकप्रिय साहित्य की संज्ञा दी जाती है पर उसे लोकजीवन से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। उसकी अपनी एक अलग ही दुनिया होती है जो अपने ही नियमों से चलती है, जो हमारी इस जानी-पहचानी धरती के नियम नहीं हैं। न उसे बुद्धि की कसौटी पर परखा जा सकता है और न संवेदना की तराज़ू पर तौला जा सकता है। नितान्त अवास्तविक, चमत्कारपूर्ण कथानक और वैसे ही अविश्वसनीय, निर्जीव, काठ के बबुआ चरित्र — पर वही तो उन लोकप्रिय उपन्यासों की दुनिया है, काग़ज़ के फूलों की, उनसे दूसरी किसी चीज़ की अपेक्षा ही क्यों? कहा जाता है कि वह शुद्ध मनोरंजन का साहित्य होता है। मैं नहीं जानता कि वह कितना शुद्ध मनोरंजन का साहित्य होता है और कितना अशुद्ध मनोरंजन का; मैं तो इतना ही जानता हूँ कि उसका मनोरंजन भी — अगर उसे मनोरंजन कहा जा सके, समय काटना शायद उसके लिए अधिक उपयुक्त शब्द हो — बस उतनी देर का होता है जितनी देर का रेल या बस का सफ़र है। ठीक है कि उनके लिखने-वालों में जो चले हुए यानी बहु-विज्ञापित नाम हैं — जो अक्सर बस नाम होते हैं क्योंकि उस नाम का वास्तव में कोई लेखक नहीं होता — उनकी किताबें खूब-खूब बिकती हैं, लेकिन गाँजे और चरस के व्यापार का भी तो एक चक्रवर्ती साम्राज्य है। उससे कुछ

भी सिद्ध नहीं होता और अगर कुछ सिद्ध होता है तो यही कि वह लोकरुचि विकृत है — यानी कि अगर उस कच्ची, अपरिष्कृत, मानसिक विकास की दृष्टि से किशोर रुचि को लोकरुचि कहा जा सके। लेकिन सच तो ये है कि रुचिसंपन्न पाठक उन पुस्तकों की ओर नहीं जाते और जो लोग समय काटने के लिए उनको पढ़ते भी हैं वो भी उनका कुछ मूल्य नहीं आँकते और न उनके लेखकों को अपने मन के भीतर से कुछ भी स्नेह या सम्मान या आदर ही दे पाते हैं। ऐसी किताबें पढ़ते वक़्त भी वो जानते हैं कि यह तो बस एक वक़्त काटने का हीला है। फिर उसे साहित्य भी कैसे कहा जाय। और उसकी इतनी भी चर्चा क्यों की जाय।

हाँ, एक प्रकार का साहित्य वह भी होता है जिसे दूसरे किसी नाम के अभाव में हम कलावादी साहित्य कह सकते हैं। वह सामाजिक संदर्भों से यत्नपूर्वक बचकर चलता है। उसकी दृष्टि केवल भाषा और शिल्प और नये रूपगत प्रयोगों पर रहती है। इसमें स्वतः कोई बुराई भी नहीं। हर अच्छे रचनाकार की दृष्टि अपनी भाषा और अपने शिल्प और नये रूपगत प्रयोगों पर भी रहती है, लेकिन केवल उन्हीं पर नहीं। यह मात्रा-भेद की बात नहीं, दोनों में गुणात्मक, तात्विक अन्तर होता है। जहाँ केवल भाषा और शिल्प पर आग्रह है, वहाँ साहित्य का प्राण तो निकल ही गया, क्योंकि साहित्य का प्राण तो उसका कथ्य होता है। मात्र भाषा और शिल्प तो साहित्य की निर्जीव काया है। लेकिन दूसरी ओर कथ्य को साहित्य का प्राण कहते समय भी मैं इस बात को रेखांकित करना जरूरी समझता हूँ कि जैसे प्राण के बिना शरीर निर्जीव होता है वैसे ही शरीर के बिना प्राण की भी कल्पना नहीं की जा सकती। रचना की वस्तु और उसके शिल्प की भी ठीक यही स्थिति है। दोनों को एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। और जहाँ एक को दूसरे से विच्छिन्न करके उनमें से किसी पर भी आग्रह किया जाता है, या विशेष आग्रह किया जाता है, वहीं साहित्य का अनिष्ट होता है। मैं मानता हूँ कि जितना अनिष्टकारी केवल शिल्प और भाषा की

बात करना है, उतना ही अनिष्टकारी केवल रचना-वस्तु की बात करना है। इसलिए कि रचना की भाषा और रचना का शिल्प उसका बाह्य अलंकरण नहीं उसकी देह के समान है, जिसके माध्यम से उसका प्राण अपने को साकार कर रहा है। इस प्रकार रचना की वस्तु और उसका रूप दोनों मिलकर एक द्वंद्वात्मक इकाई बनते हैं जिन्हें बिलगाना श्रेष्ठ साहित्य की सर्जना के लिए सदा सांघातिक सिद्ध होता आया है। इसीलिए हम यह भी देखते हैं कि स्वतःस्फूर्त शिल्प नाम की चीज़ एक तो यों कोई होती भी नहीं और जब बलात् होती भी है तो उसके पीछे से रचनाकार का आयास स्पष्ट बोल रहा होता है, जो श्रेष्ठ साहित्य के लिए कोई अच्छी बात नहीं। श्रेष्ठ भाषा और श्रेष्ठ शिल्प भी वही है जो सर्जना के आंतरिक आग्रह में से या दूसरे शब्दों में रचना की वस्तु और उसके रूप के द्वंद्वात्मक तनाव में से निकलता है।

राजनीति और साहित्य के योग की बात भी रचनाधर्मिता के इसी मूल नियम से अनुशासित होती है। सर्जनात्मक साहित्य में — और इस बातचीत में सर्वत्र साहित्य शब्द से आशय सर्जनात्मक साहित्य ही है — जो कुछ आये वह संवेदना के भीतर से होकर, संवेदना की भाषा में आये तभी सार्थक होता है। विषय राजनीति हो चाहे समाजनीति, या फिर चाहे सीधी-सादी प्रेम कहानी ही क्यों न हो, रचना-प्रक्रिया सबकी समान होती है, क्योंकि रचना के स्तर पर रचनाकार की गहरी संवेदना और पाठक के स्तर पर उस रचना की मार्मिक संवेद्यता सबके लिए समान शर्त होती है। प्रेम कहानी मार्मिक होगी ही क्योंकि वह प्रेम कहानी है और राजनीति नीरस और मार्मिकता से शून्य होगी ही क्योंकि वह राजनीति है, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। इसलिए कि अगर राजनीतिक कथाओं के नाम पर साहित्य में फूहड़ प्रचारवादी रचनाओं की कमी नहीं है तो प्रेम कथाओं के नाम पर फूहड़ नग्नतावादी या निरी उबाऊ रचनाओं की भी कमी नहीं है जो कहीं से मार्मिक नहीं। बचकाना, अनधिकारी लेखन किसी भी विषय की मिट्टी पलीद कर सकता है। इसलिए ऐसी रचनाओं के आधार पर कोई निष्कर्ष

निकालना अनुचित होगा। निष्कर्ष महत् रचनाओं के आधार पर ही निकाले जा सकते हैं। गोर्की का 'मदर' राजनीतिक उपन्यास है। टॉल्सटॉय का 'वॉर एंड पीस' राजनीतिक उपन्यास है। ब्रेश्ट का 'थ्रीपेनी ओपेरा' राजनीतिक नाटक और उपन्यास है। तुर्गेनीफ़ का 'फ़ादर्स एंड संस' राजनीतिक उपन्यास है। स्टाइनबेक का 'ग्रेप्स ऑफ़ रॉथ' राजनीतिक उपन्यास है। ह्यूगो का 'ले मिज़राब्ल' राजनीतिक उपन्यास है। एरिक मारिया रिमार्क का 'ऑल क्वॉयट ऑन द वेस्टर्न फ्रंट' राजनीतिक उपन्यास है। काफ़्का के 'द ट्रायल' और 'द कासल' राजनीतिक उपन्यास हैं। रवीन्द्रनाथ का 'गोरा' राजनीतिक उपन्यास है। शरत् के 'पथेर दाबी', 'विप्रदास' और 'शेष प्रश्न' राजनीतिक उपन्यास हैं। प्रेमचंद के 'रंगभूमि' और 'गोदान' राजनीतिक उपन्यास हैं। यह सूची इसी तरह बढ़ती चली जा सकती है। जैसे कि हेमिंगवे का 'फ़ॉर हूम द बेल टोल्स' राजनीतिक उपन्यास है। सोल्ज़ेनित्सिन के 'वन डे इन द लाइफ़ ऑफ़ इवान देनिसोविच' और 'फ़र्स्ट सर्किल' और 'कैंसर वार्ड' राजनीतिक उपन्यास हैं। और भी चाहे जितने नाम गिनाये जा सकते हैं मगर छोड़िए। अब देखना ये है कि किसमें क्या है और मैं क्यों उन्हें राजनीतिक उपन्यास कह रहा हूँ।

'मदर' रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन के एक प्रखर कर्मी की माँ की कहानी है, एक सीधी-सादी औरत की, जो बस माँ है, और धीरे-धीरे, अपने ढंग से, अपना समय लेकर क्रान्तिकारी आन्दोलन के अन्दर खिच आती है।

'थ्रीपेनी ओपेरा' हमारे ही जैसे एक भ्रष्ट समाज की भयानक, दिल को दहला देनेवाली तसवीर है, जहाँ गुंडा ही राजा है क्योंकि वह न्याय के तंत्र को ख़रीद सकता है। कोई सिर पटककर मर भी जाय तो उस खूनी गुंडे का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता, क्योंकि अधिकारी सब उसकी जेब में रहते हैं।

'फ़ादर्स एंड संस'— और उसी सिलसिले की कड़ियाँ, 'स्मोक' और 'रूदिन' जैसे उपन्यास — क्रान्ति के विस्फोट से पहले के रूस के वैचा-

रिक मंथन, आलोड़न-विलोड़न का एक बहुत ही सजीव, सांगोपांग चित्र उपस्थित करता है, जहाँ विचारधाराएँ टकरा रही हैं और उसी जीवंत टकराव में लोगों के आपसी संबंध भी टूट रहे हैं और बिखर रहे हैं।

'ग्रेप्स ऑफ़ रॉथ' १६२६ के भीषण विश्वव्यापी अर्थ-संकट के संदर्भ में अपने घर-बार नगर-परिवेश से उखड़कर रोटी की तलाश में भटकनेवाले अमरीकी काफ़िलों की कहानी है।

'ले मिज़राब्ल' उस प्रतिहिंसात्मक न्याय-तंत्र के विरुद्ध लेखक की शापवाणी है जो अपराधी को उसके अपराध से उबारना तो दूर रहा, अपनी प्रतिहिंसात्मक कार्रवाइयों से उसे और भी निष्ठुर अपराधी बना देता है।

'ऑल क्वॉयट ऑन द वेस्टर्न फ्रंट' १६१४ के उस पहले महायुद्ध को पृष्ठभूमि में रखकर लिखा गया वह अमर युद्धविरोधी उपन्यास है जिसके टक्कर की दूसरी कोई युद्धविरोधी रचना आज तक नहीं लिखी गयी।

'द ट्रायल' और 'द कासल' क्रमशः न्याय के मंदिर और निरंकुश राजसत्ता के प्रतिष्ठान के डरावने चित्र है, दुःस्वप्न जैसे, जिन्हें देखकर ठंडा पसीना छूटने लगता है, जहाँ एक ओर तो सब कुछ अवास्तविक-सा लगता है और दूसरी ओर मन अच्छी तरह जानता है कि इसमें कहीं कुछ भी अवास्तविक नहीं है, सभी कुछ इतना अपना जाना-पहचाना है, सत्य है।

'गोरा' देश की गहरी स्वाधीनता की चेतना का उपन्यास है।

'पथेर दाबी' और 'विप्रदास' सशस्त्र क्रान्ति आन्दोलन के उस अग्नियुग की कहानियाँ हैं। 'शेष प्रश्न' में युग के सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों की एक अधिक विस्तीर्ण भूमि को टटोला और परखा गया है।

'रंगभूमि' अंधे उद्योगीकरण और उससे लिपटे हुए भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ अपनी धरती से जुड़े हुए एक सीधे-सच्चे आदमी के अहिंसक संग्राम की कहानी है। 'गोदान' गाँव के बहुरूपी शोषण के संदर्भ में

किसान के अपनी धरती से उखड़ने और अपनी 'मरजाद' खोकर बाध्यतः मजूर बनने की कहानी है। होरी के बेटे को यह स्थिति स्वीकार हो तो हो, क्योंकि वह शायद समय को पहचान रहा है, लेकिन होरी तो मर ही जाता है।

'फ़ॉर हूम द बेल टोल्स' फ्रैंको के विरुद्ध स्पेन की जनता के मुक्ति-संग्राम की गाथा है।

'वन डे इन द लाइफ़ ऑफ़ इवान देनिसोविच' सोल्ज़ेनित्सिन के दूसरे उपन्यासों की तरह स्तालिन-युग के आतंक-तंत्र की भयावह और अविस्मरणीय कहानी है, जो जितने ही संयम से कही गयी है उतनी ही गहरी चोट करती है, और जो अपने संक्षिप्त कलेवर में एक दुनिया को हिला देने की ताक़त रखती है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि इन सभी कृतियों में लेखक की एक गम्भीर जीवन-दृष्टि काम कर रही है। सब अलग-अलग बातें कहते हैं और अलग-अलग ढंग से कहते हैं। किन्हीं दो में कोई शैली का भी साम्य नहीं है। पर जो चीज़ उन सभी को एक गम्भीर स्तर पर व्यापक ढंग का एक साम्य देती है वह है आदमी के साथ उनका समग्र लगाव। वही उनकी मानवतावादी दृष्टि है। संक्षेप में वह दृष्टि या परिकल्पना, जो अनेकानेक रूपों में अपने को अभिव्यक्त करती है, यही है कि आदमी सुख-चैन से रहे, कोई भूखा न रहे, नंगा न रहे, दुनिया में मारकाट न हो, सब लोग हिल-मिलकर रहें, आदमी में अच्छे गुणों का विकास हो, समाज ऐसा बने जो मनुष्य की इन सद्वृत्तियों के पनपने के लिए अनुकूल परिवेश और वातावरण दे सके अर्थात् वह एक अधिक न्याय और समता पर आधारित समाज हो, जिसमें कोई किसी का शोषण न कर सके, किसी को अपने पशु-बल से दबाकर न रख सके, जो केवल एक अंधा-बहरा पैसापूजक समाज न हो, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का समाज न हो, बल्कि जहाँ जीवन के कुछ श्रेष्ठ मूल्यों को चरितार्थ होते देखा जा सकता हो। वैदिक काल से लेकर आज तक आदमी ऐसे मानव-समाज की कल्पना करता आया है और शायद आगे भी करता जायेगा लेकिन वह कल्पना का समाज आज भी उतना ही दूर या पास है जितना

पहले रोज़ था। तथापि मनुष्य का जैसा स्वभाव है, वह अपने इस सपने को छोड़ना नहीं चाहता। बीच-बीच में ऐसे निषेधवादी विचार और विचारक हमारे सामने आते हैं जो इस चीज़ को एक सिरे से नकार देना चाहते हैं। वो कहते हैं कि यह सब कोरी आदर्शवादी भावुकता है, यथार्थ ये है कि आदमी किसी भी जानवर से गया-बीता जानवर है। कभी कभी लगता है कि शायद वह ठीक ही कह रहा है और आदमी कुछ दूर तक अपने इस नये मार्गदर्शक के साथ जाता है लेकिन फिर लौट आता है, एक तो इसलिए कि वह रास्ता कहीं ले नहीं जाता, उसके आगे तो बस आत्मघात है, और दूसरे इसलिए कि आदमी सचमुच शायद वैसा गया-बीता जानवर नहीं है — अगर उसे आदमी बनने और बने रहने का मौक़ा मिल सके।

यही साहित्यकार के सामाजिक चिन्तन की भूमि है। और इसी में से साहित्य की सामाजिक भूमिका निकलती है। साहित्य के भीतर आनेवाली राजनीति, मूल्यपरक राजनीति, भी उसी बृहत्तर सामाजिक चिन्तन का एक अंग है। कम से कम मैं उसको इसी रूप में देख पाता हूँ और इसी रूप में वह मुझे सार्थक भी लगती है। सबसे पहले तो साहित्य के रूप में सार्थक, क्यों तब राजनीति भी सीधे-साधे राजनीति के रूप में नहीं बल्कि साहित्य की अपनी ख़ास कीमियागिरी से दूसरी सभी चीज़ों की तरह जीवन बनकर आती है जहाँ सजीव पात्र अपने सब दुख-दर्द, गुस्से और तिलमिलाहट, आशा और निराशा, स्वप्नों और विभीषिकाओं समेत डोलते-फिरते दिखायी पड़ते हैं। पढ़नेवालों को तब पता भी नहीं चलता कि वहाँ कहीं राजनीति जैसी भी कोई चीज़ है, क्योंकि राजनीति वहाँ राजनीति उस रूप में है भी नहीं, वह तो साहित्य के रूप में ढल चुकी है। श्रेष्ठ साहित्य के अन्दर जिस राजनीति का समावेश होता है वह लम्वी-चौड़ी राजनीतिक बहसों में नहीं रहती, गला फाड़कर चिल्लाये गये नारों में भी नहीं रहती, वह रहती है रचनाकार की उस दृष्टि में जो राजनीति को लोगों के जीवन में रूपान्तरित करके देख सकती है। साहित्य राजनीति का पैम्फलेट नहीं लोगों की ज़िन्दगी का आईना है जिसमें और बहुत सी चीज़ों की तरह राजनीति का भी अक्स पड़ रहा है, और दूसरी चीजों से ज़रा ज़्यादा

ही पड़ रहा है क्योंकि जीवन को संचालित करनेवाले सभी सूत्र संप्रति राजनीति ने अपने हाथों में ले रक्खे हैं, जैसा कभी-कभी किसी विशेष युग में होता है। इसलिए कोई चाहे भी तो उसे अनदेखा नहीं कर सकता — और जब उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता और समाधान पाना ही होगा, अगर जीवित रहना है, तो हमें उस समाधान की दशा में बढ़ने के लिए अपने सामर्थ्य भर जन-मानस को उद्‌बुद्ध करना होगा, जन-चेतना को प्रखरतर करना होगा। लेकिन यह काम इस या उस राजनीतिक दल के प्रस्तावों को ठोंक-पीटकर साहित्य का जामा पहनाने से नहीं होगा; यह काम होगा राजनीति को जीवन के उस बृहत्तर परिप्रेक्ष्य के साथ जोड़कर देखने से जहाँ फिर संकीर्ण दलगत राजनीति नहीं रह जाती, रह जाता है बस आम आदमी और उसकी बिखरती हुई, भटकती हुई ज़िन्दगी और उसके साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ साहित्यकार, उसकी चेतना और उसका मुक्त विवेक, उसकी करुणा और उसका ओज।

ऐसे गहरे मानवीय संसर्ग की राजनीति का साहित्य में समावेश किसी रुचिसंपन्न पाठक को अप्रिय नहीं लग सकता, ऐसा मेरा विश्वास है। वह तो संकीर्ण, दलगत, नारों और कोरे सिद्धान्तोंवाली राजनीति है जिससे सब पढ़नेवालों को ऊब और चिढ़ मालूम होती है। उन्हीं को नहीं जिन्हें कैसी भी राजनीति का साहित्य से सम्पर्क स्वीकार नहीं — उनका राजनीति-विरोध तो शायद खुद एक राजनीति है, जिसके मूल में कदाचित् उनकी यह इच्छा रहती है कि जन-चेतना में ऐसे किसी तत्व का प्रवेश न हो जिससे यथास्थिति पर आँच आये — उनको भी चिढ़ मालूम होती है जो सचेतन हैं। आदमी साहित्य पढ़ता है तो साहित्य पढ़ना चाहता है, राजनीति नहीं पढ़ना चाहता। राजनीति ही पढ़नी होगी तो उसके लिए अलग ढेरों पोथियाँ हैं।

लेकिन मैंने अभी आपसे जो कुछ कहा उसका आशाय यह नहीं है कि राजनीति को छोड़कर दूसरा कोई साहित्य नहीं या कि मैं राजनीति को साहित्य के लिए अनिवार्य मानता हूँ। ढेरों नितान्त निजी प्रसंग होते हैं जिनसे श्रेष्ठ साहित्य की रचना होती है, और

उनसे भी अधिक सामाजिकता के आयाम हैं जो हमारी सर्जनात्मक चेतना को आन्दोलित करते हैं पर जो राजनीति नहीं हैं — और अगर हैं तो इस व्यापक अर्थ में कि मौलिक सामाजिक प्रश्नों का समाधान भी अंततः जाकर राजनीति से जुड़ ही जाता है। कहने का मतलब ये कि साहित्य में राजनीति का प्रसंग कोई घबराने की चीज़ नहीं है और न नाक-भौं सिकोड़ने की, कि जैसे कोई विजातीय द्रव्य साहित्य के अन्दर घुस आया हो। उसका भी साहित्य के अन्दर सुन्दर ढङ्ग से समावेश किया गया है और किया जा सकता है यदि रचनाकार साहित्य की मर्यादा के अन्दर रहते हुए, साहित्य-सृजन की नैसर्गिक प्रक्रिया में से होकर ऐसा करता है, अर्थात् अपने अनुभव-क्षेत्र के बाहर नहीं जाता और अपनी अनुभूति के सत्य को झुठलाता नहीं और वही लिखता है जिसको लिखने की गहरी तड़प वह अपने भीतर पाता है।+

+ यह व्याख्यान १५ मार्च १९७८ को रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर में दिया गया।

सामाजिक जीवन में पत्रकार की भूमिका

समाज में पत्रकार की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अगर कोई उसको ठीक-ठीक पहचाने और समर्पित भाव से उसका निर्वाह करे। सबसे पहले तो वह हमारी आँख है। उसी की आँख से हम अपनी दूर-पास की दुनिया देखते हैं। होने को तो हर समय हमारे चारों ओर असंख्य घटनाएँ होती रहती हैं जिन्हें वस्तुतः हम देखकर भी नहीं देखते। उन्हीं तमाम घटनाओं में से कुछ को चुनकर पत्रकार हमको दिखलाता है, जिनको हमें देखना ही चाहिए, जिनको अनदेखा करने से नहीं चलेगा। इस मतलब में उसकी भूमिका शहर में घूमते एक आइने की होती है जिसमें हम अपने देश-काल का अक्स देखते हैं। कहाँ गाड़ी लड़ गयी और दो सौ कि पाँच सौ आदमी मर गये। कहाँ बस खड्ड में जा गिरी या दो बसों में भिड़ंत हो गयी और पचीस-पचास आदमी मर गये। कहाँ कोई नाव उलट गयी और किसी मेले से लौटते हुए तीस-चालीस आदमी मर गये। कहाँ किस गाड़ी में डाका पड़ा और डाकू दो-चार लाख, दस-पाँच लाख की नगदी और ज़ेवर लेकर भाग गये। कहाँ किस नगर की किसी जानी-मानी सुंदरी की हत्या हो गयी और नगर के एक-एक व्यक्ति को पता है कि हत्यारा कौन है लेकिन एक पुलिस है जिसे कुछ भी पता नहीं क्योंकि कुछ ऐसी ही बात है! ऐसी सभी स्थितियों में एक सच्चा और निर्भीक पत्रकार अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करके घटना की अन्तर्घटना, कथा की अन्तर्कथा, ख़बर के भीतर की ख़बर का पता लगाता है। इस अन्तर्कथा के बिना ये सारी ख़बरें अधूरी हैं। उसी तरह जब हर साल, कभी बरसात में और कभी जाड़े में, और कभी दो-दो बार, बाढ़ आती है और गर्मी में सूखा पड़ता है और इधर

अख़बारों में आँकड़े आने लगते हैं — कितने मवेशी लापता हो गये, कितने सौ करोड़ रुपये की क्षति हुई — और उधर हज़ारों वर्गमील के घेरे में हज़ारों हज़ार परिवार बेघरबार होकर अपनी खटिया-मचिया हँड़िया-पुरवा सर पर उठाये अपने ही देश में शरणार्थी की तरह दर-दर भटकने लगते हैं, उनके पास खाने को दाना न पीने को पानी और न तन ढँकने को लुगड़ी, तो ये भी बिलकुल अधूरी ख़बरें हैं। मात्र घटनाएँ, कोरी-सपाट घटनाएँ। वह तो जब पड़ताल हो तब ये कोरी घटनाएँ ठीक-ठीक ख़बर बनें और पता चले कि ये बाढ़ आयी तो क्यों आयी ? ये सूखा पड़ा तो क्यों पड़ा ? बाढ़ रोकने की योजनाओं पर हज़ारों करोड़ रुपया जो पिछले पचीस-तीस सालों में ख़र्च किया गया है वह सब कहाँ गया ? सैकड़ों करोड़ की लागत से जो यहाँ-वहाँ बाँध बने या नदियों पर पुल बने या नहरें काटी गयीं, सबका हुआ क्या ? अभी तो दुर्भाग्यवश हमारे पत्रों में बहुधा जिस तरह ख़बरें छपा करती हैं, यह सभी कुछ प्रकृति के प्रकोप के खाते चला जाता है। पर क्या सचमुच सभी कुछ प्रकृति का ही प्रकोप है और अगर है तो फिर मालूम करना चाहिए कि प्रकृति की ऐसी विशेष कृपा हमारे ही ऊपर क्यों है ! यही सब पता लगाना पत्रकार का असल काम है। उसके बिना ख़बर कोई ख़बर नहीं। किसी नदी पर कोई पुल बाँधा जाता और ऐन उद्घाटन के दिन भहरा पड़ता है। बड़े तूमतड़ाक से कोई बाँध खड़ा होता है और पहली ही बरसात में बह जाता है। किसी स्कूल की इमारत बनती है और दो ही चार महीनों में एक रोज़ भूमिसात् हो जाती है और सैकड़ों बच्चे हलाक हो जाते हैं। चोरी, डकैती, स्मगलिंग, जवान लड़कियों का व्यापार, खून-खच्चर, दंगे-फ़साद, सबका बाज़ार गर्म है। ऐसा कि इंडिया दैट इज़ भारत सच्चे अर्थों में सभी तरह के अपराधियों के लिए एक नंदन-कानन बना हुआ है—साधारण आदमी जितना ही दुखी है संत्रस्त है, अपराधी उतना ही मगन। इस तरह यह देश अब बहुत दिन नहीं चल सकता। अगर अब फिर किसी दिन इन स्थितियों को ठीक होना है तो सबके ज़ोर लगाने से ही होगा जितना जो होगा।

और यहीं पर सबसे अग्रणी भूमिका है पत्रकार की। ये सारी कहानियाँ जो सब मिलकर एक ही कहानी बनती हैं, धुर ऊपर से नीचे तलहटी तक फैले हुए भ्रष्टाचार की, जिसके चलते अब न कहीं कोई शासन-तंत्र है न कोई जाग्रत समाज और न कोई नैतिकता के मूल्य। संपूर्ण अराजकता है, जिसमें पैसा ही राजा है और जिसकी जितनी सकत है सब पैसा बनाने में लगे हैं यानी बहती गंगा में हाथ धो रहे हैं, और जो ऐसा नहीं करते या नहीं कर सकते या नहीं करना चाहते, कायरतावश चाहे नैतिकतावश, वो सब अपने बाकी सहयोगियों-सहकर्मियों की नज़र में मूर्ख हैं, महामूर्ख। रही शेष करोड़ों जनता, वह तो पिसने के लिए ही बनी है, सदा से पिसती आयी है, आज़ाद हिन्दुस्तान में अब और भी आज़ादी से पीसी जा रही है! साठ फ़ीसदी लोग ग़रीबी की रेखा से भी नीचे जैसे-तैसे ज़िन्दगी काट रहे हैं—और यहाँ पर याद रखना चाहिए कि यह ग़रीबी की रेखा हमारी अपनी मानी हुई रेखा है और इसका दूर से भी कोई मुक़ाबला उन्नत देशों की ग़रीबी की रेखा से नहीं है। वहाँ-वाले तो इसकी कल्पना तक नहीं कर सकते और यहाँ पर जब उनकी थोड़ी-सी मुलाक़ात हमारी इस ग़रीबी की रेखा से होती है तो वो बस देखते रह जाते हैं, ठगे-से, अवाक्! कि जैसे विश्वनास। कर पा रहे हों अपनी ही आँखों का, और सच तो ये है कि विश्वास करने की बात भी ये नहीं। बेचारे यक़ीन करें भी तो कैसे जब वो सरीहन् देख रहे हैं कि दुनिया के एक हिस्से में आदमी के बच्चे जैसी ज़िन्दगी जी रहे हैं उसके मुक़ाबले में उनके जानवर भी राजा हैं। अर्थशास्त्र की बिलकुल प्राथमिक पोथियों में कभी पढ़ा था कि आदमी की बुनियादी ज़रूरतें तीन होती हैं, खाना-कपड़ा-मकान। सो इन ग़रीबों का खाना वो है जो आवारा कुत्तों का, जब जो मिल जाय, भीख माँगकर या कचरे के ढेर में से, जहाँ अकसर उनको कुत्तों-बिल्लियों से झगड़ा करते देखा जा सकता है। जहाँ इतनी भयानक ग़रीबी नहीं है वहाँ भी खाना बहुत नाकाफ़ी है और मोटा-झोटा इतना जितना कि कल्पना की जा सकती है। कपड़ों का ये हाल है

कि सर्दियाँ शुरू हुईं तो सर्दी से और गर्मियाँ शुरू हुई तो गर्मी से लोगों के मरने की ख़बरें आने लगती हैं — इतने गया में मर गये तो इतने पटने में, इतने बनारस में तो इतने लखनऊ में। और मकान — वह तो बहुत बड़ी चीज़ है, सर पर किसी तरह का कोई छप्पर तो हो! यहाँ तो सीधे-सीधे खुले आकाश के नीचे सोना है। कहीं फ़ुटपाथों पर और कहीं पार्कों में, जहाँ वो आवारा कुत्तों के साथ सोते हैं और पुलिस वहाँ से भी डंडे मारकर उनको भगा देती है!

कहाँ तक गिनाया जाय। बड़ा ही विकट संकट है जिसमें आज हमारा देश फँसा हुआ है। यह मेरे या किसी के कहने की बात नहीं है, देश का हर नागरिक, अनपढ़ से अनपढ़, इस बात को समझ रहा है कि देश के ऊपर आज मरण-संकट घहरा रहा है, लेकिन इससे छुटकारा कैसे मिले यह किसी की समझ में नहीं आ रहा है। इसीलिए एक गहरी निराशा जन-जन के हृदय में घर किये बैठी है। बड़ी-बड़ी आशाओं से जनता प्रतिपक्ष के कई राजनीतिक दलों के एक संयुक्त मोर्चे के रूप में जनता पार्टी को भारी मतों से जिताकर ले आयी थी, लेकिन देखा यह गया कि शासन की गद्दी पर बैठते ही जनता पार्टी के सभी घटकों के बीच मोटी-मोटी दरारें पड़ गयीं और चार दिन में खेल खतम पैसा हजम। भारतीय जनमानस के लिए यह एक इतना भयंकर आघात था कि इससे उबरते समय लगेगा। अभी तो कहीं आशा की किरन भी नहीं दिखायी पड़ती। लोगों का विश्वास खंडित हो गया है, मनोबल टूट गया है। लेकिन तो भी वह मरी नहीं है और असह्य जीवन-स्थितियों से बाध्य होकर उसके छिटपुट छोटे-बड़े विद्रोह भी होते ही रहते हैं लेकिन कहीं पहुँचते नहीं। और देश की हालत दिनों दिन ख़राब होती जाती है। होते-होते अब बात उस जगह पर पहुँच गयी है जहाँ एक तरफ़ सीधे रास्ते पर चलनेवाले भले आदमी का जीना मुहाल हो गया है और दूसरी तरफ़ चोर-डाकू-हत्यारे-स्मगलर-अर्थपिशाच-चोरबाज़ारी-घूसखोर सरकारी अमले-निरंकुश पुलिस इन्हीं तमाम समाज-विरोधी तत्वों की तूती बोल रही है क्योंकि उन्हें ऊँचे से ऊँचे आसन पर बैठे हुए

देशविधाताओं का संरक्षण प्राप्त है ! किसी को जर्मन नाटककार ब्रेश्ट का थ्रीपेनी ऑपेरा नाट्य मंच पर नहीं एक विराट् देश के विराट् सजीव मंच पर देखना हो तो सीधे हिन्दुस्तान चला आवे और अपनी आँखों देख ले कैसे यह चंडाल चौकड़ी काम करती है !

यहीं, इन्हीं विकराल स्थितियों में एक सच्चे और निर्भीक पत्रकार की वास्तव में सार्थक, और सार्थक ही नहीं विधायक भूमिका है। जैसी किसी दूसरे की नहीं है, न कवि की, न कहानीकार की, न गायक की, न चित्रकार की। यों तो सभी की अपने-अपने ढंग की सार्थक और प्रभावी भूमिका है, यह भी संभव है कि उनका योगदान अधिक गहरा, अधिक स्थायी और दूरगामी भी हो लेकिन जनसाधारण से जो सीधा दैनंदिन संपर्क पत्रकार का होता है वह इनमें से किसी दूसरे का नहीं होता। जनसंचार का एक माध्यम उसके हाथ में होता है और हज़ारों-लाखों पाठक रोज़ उसको पढ़ते हैं। इसलिए उसकी बात ही और है। इसीलिए उसको लोकतंत्र की सबसे बड़ी शक्ति माना गया है और इसीलिए राजनीतिक सत्ताधारी भी अगर समाज में किसी से डरते हैं तो वह पत्रकारों से। पत्रकार उनके दाँयें-बाँयें ठीक रहें, इसके लिए वो काफ़ी चौकन्ने भी रहते हैं और जो ख़रीदा जा सके उसको ख़रीदने के भी चक्कर में रहते हैं। इससे अगर कोई संकेत मिलता है तो वो यही कि पत्रकार की समाज में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है — वशर्ते वो अपने सामाजिक दायित्व को भी ठीक से पहचाने और अपनी शक्ति को भी। निष्ठावान और साहसी पत्रकार की शक्ति तो सचमुच इतनी महान् होती है कि वो देश को, समाज को हिलाकर रख दे सकती है और इस तरह जन-चेतना को एक नये धरातल पर ले जाकर सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात कर सकती है और करती भी है। इसीलिए राजसत्ता उससे घबराती है, डरती है और उसकी आवाज़ को बंद कर देने के लिए सब-सब उपाय करती है। उसी का नाम प्रेस सेंसरशिप है जो अनेकरूपा है। सबसे पहली तो वह स्थूल सेंसरशिप है जिसमें पत्र के संचालक पर दबाव डालकर पत्र की संपादकीय नीति को

बदलने का उपक्रम किया जाता है और अगर वह संभव न हो पाये तो एक न एक बहाने से उस पत्र को ही क़ानून के शिकंजे में लेकर बंद कर दिया जाता है। कितना जघन्य कर्म है पत्रों की स्वाधीनता पर इस तरह रोक लगाना !

लेकिन ये सेंसरशिप फिर भी उस सेंसरशिप से अच्छी है जिसमें इधर तो ढोंग है पूरी स्वाधीनता का और उधर आपसे कहा जा रहा है कि आप खुद अपने सेंसर का काम कीजिए ! ये सचमुच बड़ी टेढ़ी खीर है। जहाँ दूसरा कोई व्यक्ति आपको बता रहा है कि आपकी सीमा-रेखा ये है, इसी के भीतर आपको रहना है वर्ना गर्दन नप जायेगी, वहाँ तब भी, कम से कम उतनी दूर तक, आज़ादी से साँस ली जा सकती है, लेकिन जहाँ आत्म-सेंसर हो वहाँ तो बिलकुल तलवार की धार पर चलना है। कार्यतः इसका मतलब होता है कि आपकी बोलती बिलकुल ही बन्द हो जाती है — पता नहीं कब सरकार समझ ले कि सीमा का उल्लंघन हो गया !

लेकिन इतने से भी बस नहीं, सेंसरशिप के और तिरछे ढंग भी हैं। उनमें से एक तो है न्यूज़प्रिंट। सारे अख़बार न्यूज़प्रिंट पर छपते हैं। न्यूज़प्रिंट पर सौ प्रतिशत नियंत्रण है। इसका मतलब ये हुआ कि उसको हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है और किया भी जाता है। जो अख़बार आगे बढ़कर सरकारी नीतियों का पोषण करते हैं उनके लिए उनकी जरूरत से ज़्यादा न्यूज़प्रिंट का कोटा और जो सरकार की नज़र में पाजी अख़बार हैं, उनके कोटे में ज़ोरदार कटौती। बस, अख़बार आ गया सरकार के शिकंजे में, और अख़बार का मालिक है कि अब यहाँ-वहाँ इस मंत्री और उस उप-मंत्री के यहाँ रोता-गिड़गिड़ाता फिर रहा है। लेकिन अगर कोई इतने पर भी न माने और सरकार के पहलू में अपना ख़ंजर घुसाये ही रहे तो उसके लिए वह अंतिम अस्त्र, ब्रह्मास्त्र, है सरकारी विज्ञापनों पर रोक।

कौन नहीं जानता कि विज्ञापन ही अख़बार की जान होते हैं : असल कमाई किसी भी अख़बार की। इसी नाते विज्ञापनदाता पत्र-

संचालकों के माई-बाप होते हैं। सरकार से बड़ा कोई विज्ञापनदाता बाज़ार में नहीं। और अगर हम उन सारे विज्ञापनों से वंचित कर दिये गये तो हम जियेंगे कैसे, कमाई कहाँ से करेंगे! झख मारकर पत्र-संचालक चार ही दिन में घुटने टेक देता है और संपादक को सख़्त ताकीद हो जाती है कि अख़बार में कोई बात सरकार के ख़िलाफ़ न छपे वर्ना तुम्हारी ख़ैर नहीं! कहने का मतलब ये कि संपादक का क़लम उतना आज़ाद नहीं है जितना बाहर से दिखायी पड़ता है। अनेक तरह के बंधन हैं विचारों की स्वाधीनता पर। उनको दूर करने के लिए दूसरे मंचों से आवाज़ उठती रही है, आज भी उठ रही है। लेकिन अपेक्षित विचार-स्वाधीनता संप्रति न होते हुए भी निर्भीक पत्रकार के लिए ईमानदारी से अपना काम करने की काफ़ी दूर तक गुंजाइश है। फिर काम करने के लिए ऐसे बहुत से क्षेत्र हैं जहाँ शासन से सीधी टक्कर का सवाल नहीं पैदा होता। समाज में तरह-तरह के अंधविश्वास हैं, तरह-तरह की मुर्दा रूढ़ियाँ हैं, उनसे लड़ने का दायित्व पत्रकार का भी तो है। उनसे लड़ने का मतलब है उनके बारे में एक स्वस्थ, नयी दृष्टि देना और इस तरह समाज के भीतर चेतना की एक ऐसी लहर दौड़ाना कि जनसाधारण उनके बारे में गहराई से सोचने और कुछ करने को प्रेरित हों। उदाहरण के लिए दहेज की समस्या। हमारे देखते-देखते आज यह समस्या इतनी भयंकर हो गयी है कि प्रायः रोज़ ही अख़बार में एक न एक ख़बर ऐसी रहती है कि नयी बहू को जलाकर मार डाला गया। क्यों मार डाला गया? इसलिए कि वह अपने घर से काफ़ी दहेज लेकर नहीं आयी या कि ब्याह के समय जितना जो लेकर आयी थी वह बाद को ससुरालवालों को नाकाफ़ी लगा और इसको लेकर बहू को पहले तो बराबर कोंचा जाता रहा और फिर एक दिन झुँझलाकर उसे मार ही डाला गया! हिन्दू समाज के लिए इससे बड़े कलंक की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। कितना गिरा हुआ समाज होगा वो जिसमें इस तरह की घटनाएँ आये दिन होती हों! मैं कभी कोई बड़ा नैष्ठिक हिन्दू नहीं रहा लेकिन अब तो मुझे अपने को हिन्दू कहने में भी शर्म आती है। हिन्दू धर्म और दर्शन में अच्छाइयाँ भी

बहुत हैं, अनगिनत अच्छाइयाँ हैं, मुझे सब पता है, लेकिन किस काम की हैं वो अच्छाइयाँ जो समाज को ऐसा भी संस्कार नहीं दे सकीं कि वो एक मिनट के लिए भी ऐसे राक्षसों को अपने बीच बर्दाश्त न करे ! काटकर फेंक देना चाहिए ऐसे लोगों को । दूसरा कोई इलाज नहीं है उनका । और ये आवाज़ समाज के भीतर से उठनी होगी । सरकार के किये इसमें कुछ नहीं होगा । जितने मनचाहे क़ानून बनाते जाइए । कुछ नहीं होगा । जैसे तमाम क़ानूनों के रहते हुए दूसरे सब अपराध ठाट-बाट से पनप रहे हैं, वैसे ही यह भी पनपता रहेगा, बस कुछ लोगों की मुट्ठियाँ गर्म होंगी । जब तक ऐसे लोगों का सामाजिक बहिष्कार नहीं होता, लोग उनसे घिनाते नहीं, उनके मुंह पर थूकते नहीं, उनका उठना-बैठना नहीं हराम कर देते, तब तक कुछ होनेवाला नहीं । यहीं पर पत्रकार की क्रान्तिकारी भूमिका है । अच्छी तरह पड़ताल करे उनकी और अपराधी को सीधे-सीधे मुजरिम के कठघरे में ला खड़ा करे ।

ऐसा ही दूसरा बड़ा कलंक हमारे समाज का है छुआछूत । ये बर्बर रूढ़ियाँ हैं जिन्हें दूर करना ही होगा अगर हमें मिट नहीं जाना है । यह भी सरकार के किये नहीं होगा । उल्टे उसने तो जो उनके लिए आरक्षण की नीति अपनायी है उससे समस्या और भी जटिल हो गयी है । हमारी सरकार की तो सबसे बड़ी चिन्ता गद्दी में बने रहने की है । उनके चिंतन का चौखटा वही है, उसके बाहर वो सोच ही नहीं पाते । इसलिए उनका भगवान् तो वोट है । आरक्षण की नीति भी एक ऐसा ही चुनाव चक्रम है । उनसे कुछ भी उम्मीद करना बेकार है । समाज को अपना यह अन्याय खुद ही दूर करना होगा । इसके लिए सामाजिक आन्दोलन अपेक्षित है. जिसकी पूर्वपीठिका पत्रकार जैसी अच्छी तैयार कर सकता है, दूसरा कोई नहीं कर सकता क्योंकि अपने पत्र के ज़रिये वह रोज़ ही हज़ारों-लाखों लोगों से मिलता है ।

ऐसे ही और भी अनेकों सामाजिक प्रश्न हैं जिनके विस्तार में जाने की यहाँ जरूरत नहीं ।

अभी पिछले दिनों अंग्रेज़ी के एक पत्रकार चैतन्य कालबाग को इनवेस्टिगेटिव रिपोर्टिंग के लिए एक पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। अकसर ही अखबारों में निकलता है कि अमुक स्थान पर पुलिस की डाकुओं से या नक्सलियों से भिड़ंत हुई, दोनों ओर से गोलियाँ चलीं और कभी कितने कभी कितने डाकू या नक्सली मारे गये ! चैतन्य कालबाग ने इसी की अच्छी तरह पड़ताल करके इसकी भयानक असलियत को देश के सामने रखने का साहस किया है और दिखाया है कि पुलिस एक तरफ़ अपनी कारगुज़ारी दिखाने के लिए और दूसरी तरफ़ सरकार से वाहवाही पाने के लिए बिलकुल निरपराध व्यक्तियों को डाकू और नक्सली की संज्ञा देकर दाँयें-बाँयें मारती रही है ! ऐसी ही पता नहीं और भी कैसी-कैसी अंधेरगर्दियाँ कहाँ-कहाँ होती रहती हैं। जनसेवी पत्रकार उनका पर्दा फ़ाश नहीं करेगा तो कौन करेगा ? लेकिन यह काम जहाँ एक ओर साहस का है वहाँ दूसरी ओर बड़ी नैतिक ज़िम्मेदारी का भी है क्योंकि पड़ताली पत्रकारिता के नाम पर बड़ा-बड़ा अंधेर भी किया जा सकता है। किसी भी धनी-मानी व्यक्ति पर कैसा भी कोई कीचड़ उछालो और उससे रुपया ऐंठ लो। बिलकुल झूठा ही प्रचार सही लेकिन चारों तरफ़ गंदगी तो उछल ही रही है ! मानहानि का दावा करना भी उतना आसान नहीं; बरसों केस चलता रहेगा और गंदगी यों ही उछलती रहेगी। अब क्या करे बेचारा, दे ही मरेगा कुछ न कुछ अख़बार का मुँह बंद करने को। इस तरह के छोटे-मोटे स्कैंडल-शीट, निरे चीथड़े, तो बराबर निकलते ही रहे हैं, आपने भी देखे ही होंगे। बड़े शहरों से ज़्यादा ये धंधा पनपता है क़स्बों में जहाँ हर आदमी हर दूसरे आदमी को जानता है और ये भी जानता है कि आज उसके घर में काहे की दाल पकी है ! लेकिन अब यह देखने में आ रहा है कि इसी तरह के कितने ही बड़े-बड़े पत्र भी निकलने लगे हैं जो सच्ची कहानियों के नाम पर शुद्ध स्कैंडल बेच-बेचकर करोड़पति हो गये हैं। इस गंदी 'पड़ताली' पत्रकारिता और हम जिस निर्भीक, जनसेवी, पड़ताली पत्रकारिता की अब तक चर्चा करते रहे हैं, दो बिलकुल अलग चीज़ें हैं। यह वही तेजस्वी, जनसेवी पत्रकारिता है जो हमें प्रेमचंद के यहाँ 'हंस' और 'जागरण' में देखने को मिलती है। □

प्रेमचंद की वैचारिक यात्रा

□ प्रेमचंद जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में विभिन्न समारोह हो रहे हैं, अनेक हिन्दी पत्रिकाएँ विशेषांक निकाल रही हैं। आपकी नज़र में यह सब आया होगा — इस पर आप क्या सोचते हैं ?

ये सब समारोह जो हो रहे हैं, उनमें मैं खुद तो कम ही सम्मिलित होता रहा हूँ, कुछ अपनी दूसरी व्यस्तताओं के कारण और कुछ इसलिए भी कि यात्राएँ बहुत दुष्कर हो गयी हैं। लेकिन कश्मीर से कन्याकुमारी तक और इधर गुजरात और राजस्थान से लेकर बंगाल तक बड़े-बड़े शहरों में और छोटे-छोटे कस्बों में भी बहुत बड़े पैमाने पर प्रेमचन्द जन्मशती के आयोजन हो रहे हैं। यह देखकर अच्छा लगता है; क्योंकि यह एक ऐसे भारतीय लेखक का सम्मान है जो साधारण जनता के दुख-दर्द से बहुत गहरे रूप में जुड़ा हुआ था। शायद यही कारण भी है कि जितने बड़े पैमाने पर और जितने विभिन्न स्तरों पर प्रेमचन्द की जन्मशती के आयोजन हुए और हो रहे हैं, उतने इधर शायद दूसरे किसी साहित्यिक के नहीं हुए। इन समारोहों और तमाम पत्र-पत्रिकाओं के प्रेमचन्द विशेषांकों के माध्यम से प्रेमचन्द के साहित्य को, देश की समस्याओं और उनके संबंध में प्रेमचन्द के अपने समय से काफ़ी आगे बढ़े हुए विचारों को ध्यान से रेखांकित किया जाता रहा है। यही शायद उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है और इसीलिए खुशी होती है। जिन समस्याओं पर प्रेमचन्द ने रौशनी डाली थी, प्रायः वे सभी थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ आज भी हमारे साथ चल रही हैं। प्रेमचन्द के निमित्त से उनके ऊपर समाज की दृष्टि और भी गहरे रूप से पड़े, यह अच्छी ही बात है जिसका स्वागत होना चाहिए।

◻ प्रेमचंद ने अपने लेखन की शुरुआत उर्दू से की थी और बाद में उर्दू से वे हिन्दी में आये। इसके पीछे उनके रचनाकार की क्या भूमिका थी ? यह भी माना जाता है कि उन्होंने भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदी की तरह हिन्दी को आगे ले जाने का प्रयास किया। क्या इसीलिए उन्होंने उर्दू में लिखना बंद कर दिया था ? यह भी सर्वविदित है कि 'सोज़ेवतन' की जब्ती के बाद प्रेमचंद ने अपना कलमी नाम बदला था। मन में प्रश्न उठता है कि वे अपने उसी नाम से क्यों नहीं लिखते रहे ?

यह बिलकुल ठीक बात है कि प्रेमचन्द की आरंभिक शिक्षा-दीक्षा उर्दू-फ़ारसी में हुई थी, इसलिए उन्होंने लिखना भी उर्दू में ही शुरू किया। उनकी सबसे पुरानी रचना जो अब तक प्रकाश में आयी है, एक छोटा उपन्यास है, जिसका उर्दू नाम था 'असरारे मआबिद' जो अब हिन्दी में 'देवस्थान-रहस्य' के नाम से उपलब्ध है। यह छोटा उपन्यास बनारस के एक उर्दू साप्ताहिक में सन् १९०३ के अक्तूबर महीने से १९०५ तक धारावाहिक प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास में उन्होंने एक लंपट महंत की ज़िन्दगी का पर्दा फ़ाश किया है। इसके कुछ ही बाद उनका दूसरा उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' निकला था जो हिन्दी में 'प्रेमा' के नाम से रूपांतरित होकर आया है। एक उपन्यास 'कृष्णा' के नाम से भी लिखा गया था लेकिन वह अब तक उपलब्ध नहीं हो सका। 'सोज़े वतन' की कहानियाँ और अन्य रचनाएँ भी इसी काल में लिखी गयीं। इन रचनाओं का संवंध देश के स्वाधीनता आन्दोलन की उस पहली करवट से था जो बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन के रूप में सामने आयी थी। ये रचनाएँ स्वभावतः ज्वलंत देश-प्रेम की रचनाएँ हैं। अंग्रेज़ सरकार उनको सहन न कर सकी और उसने 'सोज़े वतन' को ज़ब्त कर लिया और उसकी जो प्रतियाँ हाथ लगीं, जला डालीं। उस समय प्रेमचन्द के सामने यह विकल्प उपस्थित था कि या तो लिखना-पढ़ना बंद कर दें या फिर कोई तरकीब निकालें कि जितना और जिस रंग का उनका लेखन था वह बदस्तूर बना रह सके। यह पाबंदी जो उनके ऊपर लगायी गयी थी, जो

सरकारी नौकरी में तब भी लागू थी और आज भी है कि सरकारी नौकर जो कुछ लिखे पहले उसे अपने अध्यक्ष को दिखाकर उसके प्रकाशन की स्वीकृति ले ले। उस नियम का कठोरता से पालन करने की भी सम्भावना उस समय थी क्योंकि उनकी एक पुस्तक ज़ब्त थी, वे सरकार की नज़र में एक संदिग्ध व्यक्ति थे। कलक्टर ने कहा था — अगर तुम 'सल्तनते मुग़लिया' में होते तो तुम्हारे हाथ काट लिये जाते। ख़ैर मनाओ कि तुम अंग्रेज़ी हुकूमत में हो! ऐसी हालत में हर रचना अपने गोरे साहब को दिखाकर छपवाना निश्चय ही एक टेढ़ी खीर थी, इसीलिए उन्हें अपना नाम बदलना पड़ा। स्वभावतः उनको इस बात से कष्ट हो रहा था कि जिस नाम को उन्होंने तब तक, यानी छह-सात वर्ष से भी ज़्यादा दिनों तक, बरता था और प्रतिष्ठा जिस नाम से अर्जित की थी, वह उन्हें छोड़ना पड़ रहा था। उसको छोड़कर बिलकुल एक नया नाम ले लेना और स्लेट पर फिर से नयी इबारत लिख चलना कष्टकर बात तो थी ही, लेकिन कोई उपाय नहीं था। इस सिलसिले में उस समय के दो-एक खत मुंशी दया नारायण निगम को लिखे हुए मिलते हैं जो चिट्ठी-पत्री भाग-१ में संकलित हैं। अपनी यह कठिनाई जब उन्होंने निगम साहब के सामने रक्खी तो उन्होंने यह 'प्रेमचंद' नाम सुझाया था। १९१० में इस नये नाम से छपनेवाली उनकी पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी' थी। फिर वह इसी नाम से लिखने लगे और पहले का नवाब राय नाम हमेशा के लिए चला गया। फिर इसी प्रेमचन्द नाम से उनका उपन्यास 'जलवए ईसार' छपा जो हिन्दी में 'वरदान' के नाम से आया। 'प्रेम पच्चीसी', 'प्रेम बत्तीसी', 'प्रेम चालीसी' इत्यादि कहानी-संग्रह भी इसी नये नाम से लिखे गये। इन संग्रहों की जो कहानियाँ हिन्दी में मिलती हैं, वे सब उर्दू से अनूदित हैं, क्योंकि तब तक प्रेमचन्द को हिन्दी शायद ठीक से नहीं आती थी, भले उन्होंने कोई हिन्दी की परीक्षा पास कर ली हो। उनका एक खत संभवतः १९१५ का मिलता है, जिसमें उन्होंने निगम साहब को लिखा है कि' कानपुर के 'प्रताप' ने अपने विजयदशमी नम्बर के लिए कहानी माँगी है, मुझे हिन्दी तो आती नहीं, यों ही कुछ क़लम तोड़-मोड़ दिया है।' १९१९ में उनका उपन्यास 'सेवासदन' कलकत्ते

से प्रकाशित हुआ। यह भी मूलतः उर्दू में लिखा गया था — उर्दू में इसका नाम 'बाज़ारे हुस्न' था। लेकिन यह बात सार्थक है कि यद्यपि ये मूलतः उर्दू में लिखे गये थे, छपे पहले हिन्दी में।

यही बात शायद उस सबसे बड़े कारण की ओर इशारा करती है जिसने प्रेमचन्द को उर्दू से हिन्दी में आने की ओर प्रेरित किया। उसके प्रसंग में भी कुछ चिट्ठियाँ मिलती हैं जिनमें कहा गया है कि उर्दू का बाज़ार बहुत मंदा है, यहाँ किताबों को छापनेवाला प्रकाशक नहीं मिलता, (और यह बात बिलकुल ठीक है कि प्रेम पच्चीसी, प्रेम बत्तीसी, प्रेम चालीसी वग़ैरह का प्रकाशन प्रेमचन्द ने स्वयं अपने खर्च से किया था) और हिन्दी में हालात बहुत अच्छे हैं। अमुक प्रकाशक धरना दिये बैठा है कि हमें उपन्यास दीजिए। कोई हज़ार दे रहा है, कोई दो हज़ार, कोई तीन हज़ार वग़ैरह-वग़ैरह। तो जहाँ तक मैं समझता हूँ, उनका उर्दू से हिन्दी में आने का कारण सबसे बड़ा यही है। लेकिन सम्भव है कि एक कारण यह भी रहा हो, प्रेम-चन्द को ऐसा लगा हो, कि उर्दू में उनको ठीक मान्यता नहीं मिल रही थी। इस सिलसिले में उनके एक खत का इन दिनों बहुत हवाला दिया जाता रहा है जिसमें उन्होंने कहा है कि 'उर्दू में किस हिन्दू को अब तक फ़ैज़ पहुँचा है जो मुझी को पहुँचेगा। मेरा ख़याल है कि मैं भी अपनी ज़िन्दगी के बाक़ी दिन बाबू बालमुकुन्द गुप्त मरहूम की तरह हिन्दी की ख़िदमत में सर्फ़ कर दूँगा।' अतः जहाँ तक मैं समझता हूँ, यही मुंशी जी के उर्दू से हिन्दी में आने के कारण हैं। भारतेंदु या द्विवेदी के समान हिन्दी को नया कोई परिष्कार देने इत्यादि की बात शायद कहीं दूर-दूर तक उनके मन में नहीं थी क्योंकि ऐसा कोई हवाला कहीं नहीं मिलता।

☐ कथाकार प्रेमचंद अपने जीवन के अनुभूत क्षणों को कहानियों और उपन्यासों के माध्यम से प्रकट करते रहे लेकिन वे कहानियाँ कहाँ तक अर्थवान रहीं जब कि उनके पात्र कहानी की समाप्ति पर खुद के शोषण के बावजूद प्रसन्न हो जाते हैं। मसलन् 'पूस की रात' जैसी कहानियाँ ...

प्रेमचंद की प्रासंगिकता

जहाँ तक मैं जानता हूँ, यह अभी हाल की बात है कि हिन्दी के एक नये कहानीकार ने प्रेमचन्द की कहानियों पर यह आरोप लगाया है कि वे निष्क्रिय कहानियाँ हैं। उनको निष्क्रिय इस अर्थ में कहा गया है कि उनके निष्कर्ष स्वरूप ऐसी कुछ बात नहीं निकलती कि वह शोषित व्यक्ति अपने शोषण के विरुद्ध या तो झंडा लेकर उठ खड़ा हो या डंडा लेकर उठ खड़ा हो ! अब यहाँ पर विचारणीय बात यह हो जाती है कि जो अपनी कहानियों में इस प्रकार का झंडा या डंडा लेकर उठ खड़े होने की बात कहते हैं, उनकी कहानी में इससे सचमुच कितनी ताक़त पैदा होती है ? मैं समझता हूँ कि यहाँ पर दो बातें ध्यान में रखी जायें तो अधिक संतुलित और विवेक-सम्मत एक समझ इन चीज़ों के विषय में पैदा हो सकती है। एक तो यह कि हमारे यहाँ शब्द-शक्तियाँ जो तीन — अभिधा, लक्षणा, व्यंजना — गिनायी गयी हैं, उनमें अभिधा को सबसे दुर्बल और व्यंजना को सबसे सबल माना गया है। अभिधा का अर्थ है — डंडा और झंडा। व्यंजना का अर्थ है — कहानी के भीतर से निकलनेवाली गूँजें, अनुगूँजें, बातों की लहरों पर लहरें, नये आयाम, नये स्तर, नये अर्थ। 'पूस की रात' जैसी कहानी की बात आप करते हैं तो उसका अन्त जब इस बात पर होता है कि पूस की ठिठुरती हुई रात में रात की रात मचान पर बैठकर खेत की रखवाली करने के बावजूद जब आपसी अदावत में खेत जलाकर राख कर दिया जाता है तो वह किसान खुश होता है — चलो अब यहाँ जाड़े की ठिठुरती हुई रात में बैठना तो नहीं पड़ेगा। इसके भीतर से जो अर्थ की गूँजें निकलती हैं, उन्हीं के कारण यह कहानी अविस्मरणीय बनती है, और किसान का दर्द अपनी पूरी गहराई के साथ पढ़नेवाले के दिल में उतर जाता है। दूसरी बात यह भी ध्यान में रखने की है कि जिस समय वह कहानी लिखी जा रही है तब तक देश में किसी किसान आन्दोलन का अता-पता नहीं है। उस समय अगर बड़े 'विद्रोही' ढंग की निष्पत्ति कहानी की होती तो वह कहानी को झूठा बना देती क्योंकि इसमें बहुत बड़ा काल-दोष हो जाता। आज जब कि किसान आन्दोलन है भी, तब भी यह देखना पड़ेगा कि किसी कहानी की

निष्पत्ति सार्थक रूप से कैसे हो सकती है ? विद्रोह की भंगिमा और विद्रोह दो अलग चीज़ें हैं। इसी से लगी-लिपटी बात एक और है, जिसे इसी संदर्भ में कह दूँ तो बात शायद और भी खुलकर सामने आये। आपको पता होगा, कि विख्यात फ़िल्म-निर्माता मृणाल सेन ने 'कफ़न' कहानी पर तेलुगु में 'ओकाओरी कथा' के नाम से फ़िल्म बनायी है जो वर्ष की सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म मानी गयी और बहुत सुन्दर थी। वह फ़िल्म अब हिन्दी में भी 'डब' हो गयी है। उसको देखने का मुझे हाल में मौक़ा मिला था। उस फ़िल्म को लेकर मुझमें और मृणाल सेन में कुछ विवाद भी हुआ जिसे सैकड़ों लोगों ने सुना क्योंकि वह एक 'पब्लिक डिबेट' के रूप में कलकत्ते के 'शिशिर मंच' पर प० बंगाल सरकार द्वारा आयोजित प्रेमचन्द जन्मशती के पंचदिवसीय समारोह के सिलसिले में सामने आया। निर्माता ने कहानी की व्याख्या जिस प्रकार से की है कि उसका जो नायक बूढ़ा घीसू है, वह काम न करने को अपना जीवन-दर्शन बना डालता है — एक ऐसे समाज में जहाँ व्यक्ति का शोषण किया जाता हो और दूसरों के श्रम का उपभोग करनेवाले कुछ लोग जोंक के समान ख़ून चूस रहे हों, वहाँ पर ईमानदारी से अपना काम करना सामाजिक अपराध है। उसके मुँह में इसी प्रकार की विद्रोही बातें डाली गयी हैं और पूरे फ़िल्म में इसी प्रकार से कहानी की व्याख्या मिलती है। मृणाल सेन देश के चोटी के दो-चार गम्भीर निर्माताओं में से एक हैं। मैं ऐसा मानता हूँ कि जब इस तरह का कोई फ़िल्म-निर्माता ऐसे गम्भीर विषय को उठाता है तो उसकी व्याख्या करने का अधिकार उसे देना पड़ेगा। तो जब वे मेरे पास आये थे तो मैंने यही बात उनसे कही थी। कालांतर में कुछ संयोग जुट जाने से कलकत्ते में वार्तालाप हुआ, मजेदार बहस हुई जिसमें मुझे यह देखकर बहुत खुशी हुई कि मृणाल सेन ने मेरी बात का बुरा नहीं माना और स्वीकारा कि जब वे बँगला में फ़िल्म बनायेंगे तो मेरी बात का ध्यान रखेंगे। मैंने यही कहा था कि घीसू के मुख में एक ऐसे समाज के विरुद्ध जो 'पैरासाइट्स' को जन्म देता है, बहुत आग्नेय शब्द डालकर आप उस 'पैरासाइट्स' के

समाज के ऊपर उतनी गहरी चोट नहीं करते जितनी गहरी चोट आप तब करते जब कि आपने शोषण की उस नग्न प्रक्रिया को ऐसे सजीव ढंग से रूपायित कर दिया होता कि देखिए कैसे उसी के फल-स्वरूप एक अच्छा-भला आदमी, आदमी नहीं रह जाता — उसका अमानवीयकरण हो जाता है। आप लक्ष्य करेंगे कि बात फिर वही अभिधा और व्यंजना की है।

□ प्रत्येक रचनाकार अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित होता है और उसका लेखन समाज या युग के उन्हीं चक्रव्यूहों का प्रतिफलन होता है। सोचने की बात यह है कि गांधीवाद से छूटकर प्रेमचन्द जब अपने रचनात्मक सोच में परिवर्तन का अनुभव कर रहे थे, तो क्या वह समय उनके आदर्शवाद के मोह-भंग का समय नहीं था?

आदर्शवाद, सुधारवाद, उपदेशवाद की सीमा लाँघकर प्रेमचन्द जब अपने जीवन और लेखन की सांध्यवेला में पहुँच गये थे तो उस वक़्त उनका लेखन किस दिशा की ओर उन्मुख हो रहा था?

हिन्दी आलोचना में एक बड़े मज़े की बात यह देखने में आती है, कि जब कोई कहीं एक बात शुरू कर देता है तो बहुत दिनों तक दूसरे लोग भी उस बात को दुहराते रहते हैं — बिना मूल रचना की परीक्षा का कष्ट उठाये। प्रेमचन्द के साथ यह बात हुई कि हिन्दी के आलोचकों/प्राचार्यों ने उनके लेखन को यथार्थोन्मुख आदर्शवाद और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के दो खाँचों में बन्द कर दिया और आज भी अक्सर उसी की लकीर पीटी जाती है। तो अब शायद यह कहना ठीक होगा कि प्रेमचंद को अधिक युक्त ढंग से समग्र रूप में उनके विचारों की यात्रा के संदर्भ में देखना भी शुरू हो गया है। जहाँ तक मैं प्रेमचन्द को समझ पाया हूँ, उनके विचारों की यात्रा शुरू होती है, देश की स्वाधीनता के संग्राम को लेकर जिसके आरंभिक पर्व में हम उनके ऊपर सशक्त क्रांतिकारी आन्दोलन, बंगाल के अग्नि-युग का प्रभाव देखते हैं। 'सोज़े वतन' में इस तरह की चीज़ें मिलती हैं। क्रांतिकारी आन्दोलन के जो शलाका-

पुरुष थे, जिनसे क्रांतिकारी आन्दोलन की प्रेरणा मिलती थी जैसे विवेकानन्द, इटली के क्रांतिकारी गैरीबाल्डी और मैत्सीनी, वही प्रेमचन्द के यहाँ भी उसी रूप में देखने को मिलते हैं।

कालांतर में जब लोकमान्य तिलक का प्रवेश भारतीय राजनीति में होता है और उस समय का कांग्रेस आंदोलन नरम दल और गरम दल में विभक्त होता दिखायी पड़ता है तो प्रेमचन्द की सहानुभूति गोखले के नरम दल के साथ नहीं बल्कि तिलक के गरम दल के साथ होती है। बाद को जब तिलक गिरफ़्तार करके बर्मा के माण्डले जेल में भेज दिये जाते हैं, तो कांग्रेस फिर एक बार उसी नरम दल के हाथ में आ जाती है। उसके आंदोलन का स्वरूप — 'डोमिनियन स्टेटस' या 'होमरूल' के लिए अंग्रेजों के सामने आवेदन-पत्र भेजने का है। उस राजनीति में जनता, उसकी क्रियाशीलता, उसके आंदोलन का कोई स्थान नहीं है। पीछे गांधीजी दक्षिणी अफ्रीका से हिन्दुस्तान आते हैं और यहाँ की स्थितियों-परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं, और तिलक बर्मा से लौटते हैं लेकिन ज़्यादा दिन जीते नहीं तो धीरे-धीरे आंदोलन की बागडोर गांधीजी के हाथ चली जाती है। गांधीजी उस कमरों में बंद, ब्रिटिश सम्राट् को आवेदन-पत्र भेजने की राजनीति को सड़क पर ले आने की बात पहली बार करते हैं। यानी गांधी के साथ जनांदोलन जनता के भीतर स्वाधीनता-संदेश लेकर जाने, उनके भीतर हलचल पैदा करने की बात से शुरू होता है। यह निश्चय ही हमारे स्वाधीनता-संग्राम का एक नया अध्याय है। प्रेमचन्द का झुकाव, स्वभावतः, गांधी की इस राजनीति की ओर होता है। लेकिन यहाँ पर बहुत ध्यान देकर और गहराई में जाकर देखने की बात यह है कि प्रेमचन्द गांधीजी के विचार-दर्शन को पूरा-पूरा स्वीकार नहीं करते। वे जो मान्यता देते हैं वह गांधी के विचार-दर्शन को उतना नहीं, जितना स्वाधीनता के आंदोलन को। दोनों बातों में अन्तर है। इसी अर्थ में मैंने प्रेमचन्द को गांधी का चेला नहीं बल्कि गुरुभाई कहा है क्योंकि मुझे पता करने पर यह मालूम हुआ कि गांधी और प्रेमचन्द दोनों ने सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा आदि

की बात डेविड थोरो और टॉल्स्टॉय से सीखी थी। जब गांधी टॉल-स्टॉय की नीति-कथाओं का अनुवाद गुजराती में कर रहे थे, ठीक उसी समय प्रेमचन्द उनका अनुवाद, हिन्दी में कर रहे थे और दोनों को एक दूसरे का पता भी नहीं था। प्रेमचन्द ने गांधी के विचार-दर्शन के मूल सिद्धान्त 'हृदय-परिवर्तन' को तो अवश्य स्वीकार किया जो कई वर्षों तक उनके साथ रहा और जिसने उनके कई उपन्यासों को ख़राब भी किया। ख़राब इसलिए कि जहाँ तक यथार्थ के वास्तविक चित्रण की बात है, उसमें तो प्रेमचन्द कहीं कोई मुलम्मा उस यथार्थ को, उसके कड़ुएपन को ढँकने के लिए नहीं करते लेकिन अंत में किसी का हृदय-परिवर्तन हो जाता है, कोई आश्रम बन जाता है, जो सब बहुत विश्वसनीय नहीं लगता। 'प्रेमाश्रम' में जहाँ ज़मींदारों द्वारा किसानों के बर्बर शोषण, बेदखली, मारपीट, वसूली की ज़ोर-जबर्दस्ती आदि बहुत ही खरे और नंगे शब्दों में पूरी तेज़ी के साथ आयी हैं, वहीं उनका नायक अपनी ज़मीन बाँट देता है, एक प्रेमाश्रम बन जाता है ! लेकिन साथ में यह भी ठीक है कि गांधीजी की सब बातें उनकी समझ में नहीं आती थीं। उदाहरणार्थ, गांधीजी ने जब अपना पहला आंदोलन चौरीचौरा काण्ड के कारण वापस ले लिया तो मन्मथनाथ गुप्त के साक्ष्य के आधार पर, जो उस समय काशी विद्यापीठ में प्रेमचन्द के छात्र थे, मुझको यह पता चला कि प्रेमचन्द ने चौरीचौरा के नाम पर आंदोलन बंद करने को ठीक नहीं समझा था। उसी ज़माने में प्रेमचन्द ने 'स्वराज्य के फ़ायदे' के नाम से एक छोटी-सी पुस्तिका भी लिखी थी जिसमें उन्होंने स्वराज्य को जनता की स्वाधीनता कहा था और उस राजनीतिक स्वाधीनता से जनता को मिलनेवाले सामाजिक और आर्थिक लाभों अर्थात् लोक-कल्याण के रूप में, उसे व्याख्यायित किया और यह काम उस समय किया जव कि गांधीजी अपने 'रामराज्य' को परिभाषित करने या उसकी कोई स्पष्ट रूप-रेखा बनाने के लिए राज़ी नहीं थे, बावजूद इसके कि जवाहरलाल इसके लिए बार-बार गांधीजी से ज़ोर देकर कह रहे थे। प्रेमचन्द ने मुक्त भाव से गांधी और कांग्रेस से आगे बढ़कर स्वराज्य की

व्याख्या की। फिर कुछ समय बाद 'संग्राम' नाटक लिखा जो मंचीय नाटक के रूप में भले ही कैसा भी हो पर वैचारिक दस्तावेज़ के रूप में अत्यन्त मूल्यवान है, क्योंकि वहाँ हम उसके नायक सबल सिंह को अंग्रेज़ी राज में जनता के शोषण के चित्र 'मैजिक लैंटर्न' से प्रस्तुत करके स्वाधीनता आंदोलन के लिए जन-जागरण के कार्य में लगा देखते हैं। इतना ही नहीं १९१८ में ही हम 'प्रेमाश्रम' के आरंभिक पन्नों में उपन्यास के एक पात्र को रूस की क्रांति और बलगारिया की किसान क्रांति के संबन्ध में बहुत उत्साह से बात करते देखते हैं। लगभग इसी समय अपने एक पत्र में प्रेमचन्द अपने को 'बोल्शेविक उसूलों का क़ायल हो गया हूँ' कहते हैं। इन सबसे यह पता चलता है कि प्रेमचन्द अपने जीवन-अनुभव, अपने सामाजिक अध्ययन-परीक्षण के आधार पर अपने विचारों की यात्रा कभी किसी के साथ और जहाँ वह साथ छूट जाये वहाँ अकेले ही करते हैं। यहाँ तक कि 'गोदान' तक आते-आते उनका गांधीवाद से या आदर्शवाद से मोह-भंग हो जाता है। उसके बाद उन्होंने 'मंगलसूत्र' लिखा, जो संभवत: एक आत्मचरितात्मक बड़ा उपन्यास था और पूरा नहीं किया जा सका, बल्कि ठीक ढंग से शुरू भी नहीं हो पाया था कि मुंशीजी इस दुनिया से चले गये। लेकिन उसमें हम यह देखते हैं कि 'गोदान' में जहाँ वर्ग-साहचर्य के सिद्धान्त से मोह-भंग हो चुका है, चाहे जिस कारण भी, वहाँ 'मंगलसूत्र' में लेखक और आगे बढ़कर, वर्ग-साहचर्य को पीछे छोड़कर, वर्ग-संघर्ष तक का संकेत देने लगता है, जब वह कहता है — 'दरिंदों से लड़ने के लिए हमको हथियार बाँधना पड़ेगा।' इसी से आप समझ सकते हैं कि उनके लेखन का अगला वैचारिक मोड़ क्या होता। उनकी वैचारिक यात्रा का दूसरा क्षेत्र समाज के स्तर पर समाज-सुधार को लेकर है। उसमें हम उनको एक आर्य समाजी समाज-सुधारक के रूप में आरंभ में देखते हैं। उसी में कालांतर में रानाडे के 'सोशल रिफ़ॉर्म लीग' की कड़ियाँ भी मिलती हैं। इस सामाजिक सुधार का संबंध हिन्दू समाज की उन बुराइयों को दूर करने से है जिन्हें हम बाल-विवाह के रूप में या विधवा-विवाह के निषेध आदि के रूप में देखते हैं। ये समस्याएँ तब भी थीं, और कम

से कम विधवा-विवाह का निषेध तो आज भी है। नारी की जो दमित स्थिति है, उससे उनका सरोकार रहा — जिस समाज का आधा वर्ग उपेक्षित-दलित रहेगा वह कभी तरक़्क़ी नहीं कर सकता। इन्हीं वैचारिक बिंदुओं को हम उनकी रचनाओं के अन्दर रूपायित देख सकते हैं।

□ हमारे यहाँ आलोचना की जितनी प्रणालियाँ हैं, उनमें एक तुलनात्मक आलोचना भी है। कतिपय विचारक प्रेमचन्द की तुलना जैनेन्द्र जी से या रामचन्द्र शुक्ल से करते हैं। ऐसी तुलनात्मक आलोचनाओं के विषय में आपकी अपनी प्रतिक्रिया क्या है ?

जैनेन्द्र कुमार से प्रेमचन्द की तुलना नितान्त अप्रासंगिक है क्योंकि उनकी लेखन शैली, उनकी विषय-वस्तु का संचयन अलग है। जैनेंद्र व्यक्ति संबंधों से सरोकार रखते हैं जब कि प्रेमचंद सामाजिक संबंधों से। यह ठीक है कि दोनों आत्मीय थे। यह भी ठीक है कि प्रेमचन्द ने जैनेंद्र की प्रतिभा को पहचाना, आगे लाये, पर यह भी ठीक है कि दोनों की रचना-दृष्टि, सामाजिक-दृष्टि अलग-अलग है।

चाहिए तो शुक्ल जी के विचारों से तुलना कर लीजिए लेकिन वह बहुत संगत इसलिए नहीं जान पड़ती कि शुक्ल जी समीक्षक हैं, हिन्दी आलोचना के सबसे सबल स्तंभ, जब कि प्रेमचन्द एक सर्जक साहित्यकार हैं। उनका रचना-संसार ही अलग है।

□ आपकी अपनी दृष्टि में रचनाकार प्रेमचन्द का कौन-सा रूप सबसे अधिक सार्थक और प्रभावी है ?

मैं प्रेमचन्द को कहानीकार के रूप में सबसे बड़ा मानता हूँ। मेरी मान्यता है कि प्रेमचन्द कहानीकार के रूप में, छोटी कहानी के प्रणेता के रूप में, संसार के चार-छः बड़े से बड़े लोगों में एक हैं — ओ. हेनरी, मोपासाँ, चेखोव जैसे लोगों को ध्यान में रखते हुए। उपन्यासकार के रूप में भी मैं उनको बहुत बड़ा मानता हूँ क्योंकि

उन्होंने हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं में उस विधा को उस जगह से उठाया जहाँ पर वह तिलिस्मी कहानियों 'चन्द्रकांता संतति' 'भूतनाथ' 'तिलिस्मे होशरुबा' जैसी कृतियों तक ही सीमित थी। वहाँ से उपन्यास को उठाकर उन्होंने उसे आधुनिक अर्थों में उपन्यास बनाया, जिस अर्थ में हम पश्चिम के उपन्यास को उपन्यास कहते हैं, जहाँ से यह विधा हमारे देश में आयी है। कहते हैं कि पहले यह काम एपिक काव्य किया करता था — अपने समय के जातीय जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करना। अपने समय की संस्कृति, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक जीवन, परिस्थितियाँ, सबको लिये-दिये वह एक बड़े आकार की कृति होता था। वही काम अब एपिक उपन्यास करता है जैसा कि आप प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गोदान' आदि में देख सकते हैं। सभी में एपिक का यह आयाम मिलता है। इस अर्थ में उनकी देन उपन्यास को भी बहुत बड़ी है। लेकिन मैं उपन्यासकार के नाते उनको वह स्थान नहीं दे पाता जो उदाहरण के लिए मैं टॉलस्टॉय या डिकेंस को देना चाहूँगा — पर मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि इन उपन्यासों में ऐसे स्थल नहीं हैं जो संसार के श्रेष्ठतम उपन्यासों से टक्कर नहीं ले सकते। लेकिन पूरी कृति वैसी ही निर्दोष, उस पाये के अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मुझे कम मिलती है। लेकिन कहानियाँ — पूरी की पूरी कहानियाँ — सत्तर-अस्सी की संख्या में ज़रूर मिलती हैं जितनी कि बड़े-से-बड़े दुनिया के किसी कहानी के मास्टर के पास मिलेंगी। *

---

* यह साक्षात्कार 'गगनांचल' में प्रकाशित हुआ।

प्रेमचंद की भारतीयता

मैं पहले ही कह दूं कि यह विषय मुझे ज़रा पेंच में डालनेवाला मालूम होता है, क्योंकि उससे आदमी भरम में पड़कर सबसे पहले इसी की पड़ताल करने में लग जाता है कि यह 'भारतीयता' आख़िर है क्या चीज़ जो प्रेमचंद में खोजी जानी है। और यहीं पर वह पकड़ जाता है। क्योंकि, मुझे लगता है, बिना किसी संदर्भ के, शून्य में, 'भारतीयता' की तलाश एक बेकार की ही कसरत होगी। घंटों-घंटों बहस करने के बाद भी हम शायद कहीं पहुँचेंगे नहीं। कारण स्पष्ट है। किसी भी सभ्यता और संस्कृति में — और विशेष रूप से भारत जैसे देश में जिसके पीछे पाँच हज़ार साल का इतिहास है और वह इतिहास भी कैसे-कैसे उतार-चढ़ाव से भरा हुआ — सभी तरह के तत्व मिले रहते हैं, कुछ जो कि मर चुके हैं, जिनमें कहीं कोई प्राण शेष नहीं, बिलकुल मुर्दा रूढ़ियाँ, और कुछ जिनमें अभी जान बाक़ी है, जो अब भी ख़ासे तरोताज़ा हैं, जिनके भीतर श्रेष्ठतम मानव-मूल्यों का संचरण है। अतः तत्काल यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हम बतायें हम उन दोनों में से किसकी बात करना चाहते हैं? इसकी सफ़ाई न होने से अकसर बात इसी गोरखधंधे में उलझकर रह जाती है। इसलिए ज़रूरी है कि हम पहले ही स्पष्ट कर दें कि हम प्रेमचंद की 'भारतीयता' की पड़ताल शून्य में नहीं बल्कि उसकी रचनाओं के संदर्भ में करेंगे, जीवन के सुंदर मूल्यों की उसकी खोज के संदर्भ में, क्योंकि समस्त श्रेष्ठ साहित्य का यही सारतत्व है। हमारी सांस्कृतिक परम्परा में इसको सूत्र रूप में सत्य, शिव और सुंदर की या फिर सत्, चित् और आनंद की संज्ञा दी गयी है लेकिन मूलतः सारे संसार में मूल्यों की यह खोज एक ही है। होमर, व्यास,

वाल्मीकि; दान्ते, गेटे, शेक्सपियर; कबीर, सूर, तुलसी; सर्वाण्टीज़, बाल्ज़ाक, ह्यूगो; बायरन, शेली, डिकेन्स; टॉलसटॉय, दोस्तोवेस्की, चेखोव; गोर्की, नेक्सो, लु शुन; ह्विटमैन, स्टाइनबेक, रोमें रोलाँ; रवीन्द्रनाथ, शरत् चट्टोपाध्याय, प्रेमचंद; या दूसरे महान् लेखक जिन्हें आप प्यार से याद करते हों, जिन्होंने आपके मन को गहरे पैठकर छुआ हो, चेतना को आलोड़ित किया हो, संवेदना को परिष्कृत किया हो, उन सभी मानवतावादी साहित्यकारों की परम्परा समान रूप से उन्हीं महत् जीवन-मूल्यों की, सामाजिक आचरण के सभ्यतर मानकों की, सत्य और न्याय की खोज करती मिलेगी। बात कहने का उनका ढंग अलग हो, अपने विशिष्ट परि-वेश के आग्रहानुसार कहीं किसी ने एक बात पर और किसी ने किसी दूसरी बात पर विशेष बल दिया हो, पर उन सबकी नैतिक और सामाजिक चिन्ता और सरोकार उन्हीं जीवन-मूल्यों पर केन्द्रित दिखायी देगी। अतः मैं पुनः रेखांकित करना चाहता हूँ कि प्रेमचंद की 'भारतीयता' की खोज उसके मानवतावाद में ही करना होगा अन्यथा इसकी पूरी आशंका है कि हम भाँति-भाँति के बिलकुल ही बेमेल, विरोधी विचारों के एक घने जंगल में खो जायें जहाँ से बाहर निकल पाना भी मुशकिल हो, किसी मंज़िल पर पहुँचना तो दूर की बात है। इसीलिए मुझे लगा कि अच्छा होगा अगर हम यहाँ पर, बहुत संक्षेप में, प्रेमचंद के मानवतावाद के विभिन्न स्वरूपों पर एक नज़र डालें और फिर यह समझने की कोशिश करें कि उनमें ऐसी कौन सी बात है जो उन्हें प्रामाणिक रूप से भारतीय बनाती है।

एक और छोटा-सा प्रश्न है जिस पर यहीं विचार कर लेना अच्छा होगा : क्या भारत जैसे बहुजातीय महादेश में, जहाँ विभिन्न भाषिक अंचलों में इतनी सांस्कृतिक विभिन्नता पायी जाती है, किसी समग्र 'भारतीयता' की बात कही जा सकती है ? मैं समझता हूँ कि कही जा सकती है क्योंकि सारी प्रादेशिक विभिन्नताओं के बाद भी इस महादेश में आदिकाल से एक समग्र सांस्कृतिक एक-सूत्रता का आधार रहा है जिसे पहले तो शताब्दियों से चले आते अनेक धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन बल पहुँचाते

रहे और बाद को अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध देश के स्वाधीनता आन्दोलन ने पुष्ट किया।

आज देश भर में जैसी विघटनकारी प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं, उनको देखते हुए देश की एकसूत्रता की बात किसी को झूठी भी लग सकती है, पर मेरा विश्वास है कि आज हम लोग यह सब जो कुछ देख रहे हैं उससे वह मौलिक एकसूत्रता नहीं झूठी पड़ती। मेरी समझ में तो वह सीधा-सीधा उस गद्दी-कुर्सी की घटिया राजनीति का प्रतिफल है जिसको अगर समय रहते रोका न जा सका तो वह शायद देश और समाज का तार-तार बिखेर ही देगी, लेकिन अगर रोक-थाम हो जाती है तो बिगड़ी बात को बनते भी बहुत देर न लगेगी। मेरा अन्ततः यही विश्वास है जो मेरा मोह भी हो सकता है, पर मैं कोई कारण नहीं देखता कि आज की इस भ्रष्ट राजनीति को ही भारतीय समाज का एकमात्र सत्य मान लिया जाय। किसी भी देश के जीवन में तरह-तरह के उतार-चढ़ाव आते हैं। आज हम एक बुरे दौर से गुज़र रहे हैं, तथापि मेरा आन्तरिक विश्वास है कि अनुकूल वातावरण मिले, जलवायु मिले तो जन-स्तर पर एकसूत्रता का एक सबल आधार देश के पास है।

देश की आत्मा अपने साहित्य में बोलती है, और अपनी ललित कलाओं में — वही उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। इसलिए अभी हम देश की जिस आत्मिक एकसूत्रता की चर्चा कर रहे हैं, उसका माध्यम भी वही है और उसका प्रमाण भी सबसे पहले उसी में मिलेगा। जो कि मिलता है, और अद्‌भुत रूप में मिलता है। प्राचीन काल को तो जाने ही दीजिए जब कि संस्कृत ही अभिव्यक्ति का एकमात्र सार्वदेशिक माध्यम थी और अपनी उच्चवर्गीय सीमाओं के भीतर भारत की इसी व्यापक एकसूत्रता को वाणी दे रही थी, जैसा कि हम आज भी उसके साहित्य में देख सकते हैं, परवर्ती प्राकृत और अपभ्रंश का जो थोड़ा-बहुत साहित्य देखने को मिलता है उसमें और फिर मध्ययुग में आकर, भारतीय आर्य-भाषाओं अर्थात् हमारी आधुनिक भाषाओं और बोलियों के जन्म

और आरम्भिक विकास से लेकर आज तक हमारे समस्त भारत देश में सर्वत्र वही एकसूत्रता देखने को मिलती है, फिर प्रसंग चाहे लोक-जीवन का हो और चाहे निर्गुण और सगुण राम-कृष्ण की भक्ति का। यह आकस्मिक बात नहीं है कि हिन्दी के प्रेमचंद, बँगला के विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय, उड़िया के गोपीनाथ महान्ती, कन्नड के शिवराम कारन्थ और मलयालम के तकषी शिवशंकर पिल्ले, सभी अपने यहाँ के किसान की दुख-दर्दभरी कहानी लिखते हैं, जो सब मिलकर संपूर्ण भारत के किसान की वही एक महागाथा बन जाती है, जिसमें एक किसान की लाश को नोचने के लिए कितने ही गिद्ध पंगत लगाये बैठे नज़र आते हैं। ज़मींदार अपने लठैत गुंडों समेत, महाजन अपना झूठा बहीखाता लिये हुए, पटवारी अपने झूठे खाते-खतौनी के साथ जिसमें किसी की ज़मीन किसी के नाम चढ़ा देना उसके बाँयें हाथ का खेल है, दरोगा-जी जिनके डंडे से सब काँपते हैं, नायब तहसीलदार साहब जो अपने इलाक़े के हाकिम हैं — और फिर ब्राह्मण देवता, श्री श्री पंडित जी महाराज, जो छट्ठी-बरही, मूड़न-कनछेदन, सगाई-वियाह, तीज-त्योहार, हर कारज-परोजन के लिए अनिवार्य हैं, जिनके साम्राज्य की अपनी एक अलग ही छटा है!

लेकिन शोषण का यह तंत्र हवा में नहीं खड़ा है, उनके वे सब अज्ञान और अंधविश्वासों के मोटे-मोटे खंभे भी आपको इन सभी के यहाँ खड़े मिलेंगे, जो सभी पिछड़े देशों की कहानी रही है पर जो यहाँ पर अपनी विशिष्ट भारतीय पहचान के साथ मिलती है — तरह-तरह के जादू-टोने के प्रपंच में फँसे हुए, अपने अंधकार की कारा में बन्द करोड़ों की संख्या में गाँव की ग़रीब जनता; धर्म के नाम पर वही सब पाखंड; वह भयंकर सामाजिक पिछड़ापन जो अस्पृश्यता और दहेज जैसी जघन्य, बर्बर प्रथाओं के रूप में आज भी हमारे बीच बैठा है, दहेज जो कन्या को जन्म देने के समान महापाप के दंड या ऋणशोधस्वरूप लगाया गया मुक्तिधन है जो वरपक्ष को देना ही पड़ेगा अगर आप चाहते हैं कि आपकी कन्या के हाथ पीले हों, अन्यथा उसे फिर आजीवन बिन-ब्याहे ही रहना पड़ेगा, फिर वह जीवन-यापन के लिए चाहे जाकर

किसी के घर वासन माँजे और चाहे किसी के जाल में फँसकर और इधर-उधर धक्के खाकर आख़िरकार किसी चकले में पहुँच जाय। और उस बेचारी दुखियारी जवान औरत का तो कुछ कहना ही नहीं जो समाज के ठेकेदारों के चलते सोलह और अट्ठारह साल की उम्र में, चढ़ी जवानी में विधवा हो जाने पर भी दुबारा विवाह नहीं कर सकती भले मर्द साठ साल की उम्र में भी बैंड बजवाकर दुबारा-तिबारा ब्याह रचा ले !

गाँव को बदलकर शहर कर दीजिए, खेतिहर किसान को बदलकर दफ़्तर का बाबू कर दीजिए, और कहानी वही की वही रहती है। वही भयानक ग़रीबी — देश के साठ प्रतिशत लोग ग़रीबी की रेखा के भी नीचे ज़िन्दगी बसर करते हुए, और यह ग़रीबी की रेखा भी ख़ास अपनी हिन्दुस्तानी, जिसकी कल्पना भी कोई सम्पन्न देश-वाला नहीं कर सकता, शायद समझ भी नहीं सकता — और वही सामाजिक पिछड़ापन जिसकी जड़ें वैसी ही कट्टर रूढ़िवादिता और अंधविश्वासों में हैं।

यह कैसे संभव है कि किसी भी सजग और भावुक व्यक्ति के समाज-वोध को, नैतिकता-बोध को, सौन्दर्य-बोध को इन बातों से आघात न पहुँचे। फिर कैसे एक लेखक जो शायद औरों से कुछ अधिक ही सजग और भावुक होता है — कम-से-कम उससे अपेक्षा यही की जाती है — अपनी आँखों के आगे आती हुई इन नैतिक चुनौतियों को अनदेखा कर दे ? कैसे न लिखे उनके बारे में ? इस-लिए यह नितान्त स्वाभाविक बात थी कि हमारे प्रतिभासम्पन्न मानवतावादी, सामाजिक यथार्थवादी लेखकों ने इन चीज़ों के बारे में लिखा और इतनी संवेदना और सर्जनात्मक स्फूर्ति के साथ लिखा। उनके इस समस्त लेखन में एक जो मूलभूत एकसूत्रता देखने में आती है, उसका कारण यही है कि बावजूद कुछ थोड़े से आंचलिक अन्तरों के, सारे भारत का सामाजिक मानचित्र एक है। आंचलिक पृष्ठ-भूमि का जो अन्तर मिलता है वह स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी क्योंकि उसी से उस धरती का संकेत मिलता है जिसके भीतर

से उस रचना का जन्म हुआ है; उसकी वही आंचलिकता उसे प्रामाणिक बनाती है। वह न हो तो भय है कि रचना मात्र एक भावुक उच्छ्वास होकर रह जाये। रचना के पास अपना जो यह गहरा प्रादेशिक या आंचलिक रंग रहता है उससे न केवल यह कि इस केन्द्रीय सत्य पर कोई आँच नहीं आती कि यह भारतीय जीवन के प्रति एक भारतीय मानस की प्रतिक्रिया है, उसी के माध्यम से रचनाकार अपनी धरती और अपनी जनता के संग अपने गहरे सम्बन्ध को, उनके प्रति अपने अनुराग और उनके जीवन की अपनी मज़बूत और जीवन्त पकड़ को और उन समस्याओं की अपनी गहरी, विशिष्ट पहचान को अभिव्यक्ति देता है।

जैसा कि हम उत्तर भारत के किसान के जीवन के सन्दर्भ में प्रेमचंद की रचनाओं में देखते हैं। उसके यहाँ प्रभाव उत्पन्न करने के लिए या सजावट के लिए, हाशियाआराई के लिए, कोई अतिरिक्त आंचलिक रंग नहीं मिलता; उसकी तो गाँव की उस समग्र ज़िन्दगी की पकड़ इतनी मज़बूत है कि उसको सीधे-सीधे पेश कर देने से ही कहानी और चरित्र सब बड़े प्रामाणिक और विश्वसनीय ढंग से प्रतिष्ठित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए उसके पात्र कभी-कभार यहाँ-वहाँ गँवई बोली के एकाध मुहावरे या लटके-खटके के सिवा गँवई बोली का इस्तेमाल शायद ही कभी करते हों पर बात जो कही जा रही है वह इतनी ज़्यादा किसानों की अपनी ज़िन्दगी में से निकली हुई होती है कि अपने दूसरे सब आसंगों के कारण उस परिवेश को सजीव कर देती है — वह घर कैसा है जिसमें वह आदमी रहता है, वह कपड़े क्या पहने है, वह कैसे बात करता है, उठता-बैठता कैसे है, उसके चारों तरफ़ उस गाँव का क्या नक़्शा है, गाँव का वह कुआँ, वह चौपाल जहाँ शाम को सब किसान मिलते-बैठते हैं और उस रोज़ गाँव में जो-जो कुछ हुआ है और किस पर क्या मुसीबत पड़ी है और सूखे-बूड़े और हारी-बीमारी और जाफ़ा-बेदख़ली की बातें करते हैं। गाँव का प्राकृतिक परिदृश्य, फूल-पत्ती, गैया-गोरू, सानी-पानी, रीति-रिवाज, मेले-ठेले — प्रेमचंद की नज़र इन पर रहती है और मैं

समझता हूँ यही वो चीज़ें हैं जिनमें प्रेमचंद की भारतीयता बोलती है। वह जिस तरह जन-साधारण, मुख्यतः किसानों, के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है, जिस खूबी के साथ अपने को उनके भीतर ढाल लेता है — ऐसे कि होरी और सूरदास जैसे चरित्र अपने सर्जक से अलग जान ही नहीं पड़ते — वही उसकी सबसे बड़ी ताक़त है। फलतः उसका रचना-संसार जितना बड़ा और बहुरंगी है, उसमें भारत और विशेष रूप से ग्रामीण भारत अपने सब हर्ष-विषाद, आशाओं-आकांक्षाओं और सुख-दुःख के साथ सजीव होकर सामने आ खड़ा होता है। उसकी कुछ कृतियों पर एक उड़ती-सी नज़र डालने से बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

उसका पहला उपन्यास 'असरारे मआबिद' अर्थात् 'देवस्थान-रहस्य', जो १९०३ में उर्दू के एक गुमनाम-से साप्ताहिक 'आवाज़े ख़ल्क़' में धारावाहिक प्रकाशित होना शुरू हुआ था, एक मठ के महन्त की सुरा-सुंदरी में आकंठ डूबी हुई, रँगरेलियों से भरी ज़िन्दगी का पर्दाफ़ाश करता है।

उसका दूसरा उपन्यास, 'हमखुर्मा ओ हमसवाब' में (हिन्दी में 'प्रेमा') जिसका प्रकाशन १९०४ में हुआ था, एक विधवा स्त्री के करुण जीवन की कहानी है। उसमें लेखक विधवा स्त्री के साथ किये गये समाज के उस अन्याय और अत्याचार को साफ़-साफ़ रेखांकित करता है जो विधवा स्त्री — भले वह नवयुवती ही क्यों न हो — के पुनर्विवाह का निषेध करता है। हिन्दू समाज का, और उस में भी विशेष रूप से सवर्ण हिन्दू समाज का, यह एक भयंकर अभिशाप है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह एक विशिष्ट भारतीय समस्या है और अपने लेखन के प्रति सामाजिक दृष्टि रखनेवाले किसी भी सच्चे अर्थों में भारतीय लेखक का ध्यान उसकी ओर जाना सहज स्वाभाविक है, भले शरत् चट्टोपाध्याय ने, सनातन धर्म में अपनी आस्था के कारण, समस्या का उदात्तीकरण करके उसका समाधान नारी के चारित्रिक उत्कर्ष में, उसकी उत्सर्ग-भावना में देखा हो।

इन दो आरम्भिक लघु उपन्यासों के बाद, काल-अनुक्रम की

दृष्टि से, कहानियाँ आती हैं — भारतीय स्वाधीनता-संग्राम को समर्पित वही ज्वलंत देशप्रेम की कहानियाँ जिनके पहले संकलन 'सोज़े वतन' को अंग्रेज़ सरकार ने ज़ब्त किया और जितनी भी प्रतियाँ उसकी मिलीं उन्हें जला दिया।

प्रेमचंद का तीसरा छोटा उपन्यास 'जल्वए ईसार' (हिन्दी में 'वरदान') जो १९१२ में प्रकाशित हुआ, जनता की सेवा को सच्चे हृदय से सर्मपित एक स्वामीजी की कहानी है, जो हमारे भारतीय गाँवों की गरीबी और गंदगी, अज्ञान और अंधविश्वासों को खूब गहराई में जाकर बड़े प्रामाणिक ढंग से उजागर करती है।

उसका चौथा उपन्यास 'सेवासदन' (उर्दू में 'बाज़ारे हुस्न'), जो १९१८ में प्रकाशित हुआ, ऐसी एक अभागिन विवाहित स्त्री की कहानी है जो अपने पति के अत्याचार से त्रस्त होकर अपना घर छोड़ने पर विवश होती है और अन्ततः एक रंडी के कोठे पर पहुँच जाती है।

पाँचवाँ उपन्यास 'प्रेमाश्रम' (उर्दू में 'गोअए आफ़ियत') जो १९२२ में प्रकाशित हुआ, ज़मीन्दार द्वारा किसानों के अमानुषिक शोषण की कहानी है।

'रंगभूमि' (उर्दू में 'चौगाने हस्ती'), जो १९२५ में प्रकाशित हुआ, एक अंधे किसान सूरदास की कहानी है। एक पूंजीपति सिगरेट का कारख़ाना डालने के लिए उसकी ज़मीन को हथियाना चाहता है। सूरदास का विश्वास है कि वहाँ पर उस कारख़ाने के खुलने से वहाँ के लोगों पर बहुत घातक नैतिक प्रभाव पड़ेगा, और वह यह जानते हुए भी कि उस पूँजीपति के मुक़ाबले में वह हर तरह से बहुत कमज़ोर है, अपनी ज़मीन की रक्षा के लिए अहिंसक ढंग से प्राणपण संघर्ष करता है और अन्ततः अपने प्राणों की बलि चढ़ा देता है।

'कायाकल्प' (उर्दू में 'पर्दए मजाज़'), जो १९२७ में प्रकाशित हुआ, ऊपर से देखने पर तो पुनर्जन्म की कहानी है पर असलियत में वह राजनीतिक नेताओं के उस पुनर्जन्म और कायाकल्प की कहानी है जो धारासभाओं में पहुँचकर बिलकुल स्वार्थी, लोभी, झूठे और प्रवंचक बन जाते हैं।

'निर्मला', जो 'चाँद' नामक पत्रिका में नवम्बर १९२५ से नवम्बर १९२६ तक धारावाहिक प्रकाशित हुआ और १९२७ में पुस्तकाकार निकला, दहेज की लम्बी रक़म न जुटायी जा सकने के कारण एक जवान लड़की के एक बुड्ढे आदमी से अनमेल ब्याह और उसके भयंकर, सांघातिक दुष्परिणामों की करुण कहानी है।

'ग़बन', प्रकाशित १९३१, एक ओर भारतीय स्त्रियों की विनाशकारी आभूषण-वासना की कहानी है और दूसरी ओर साधारण मध्यवर्ग के लोगों की उस दुर्भाग्यपूर्ण प्रदर्शनप्रिय मानसिकता की जो अपनी सच्ची विपन्न आर्थिक स्थिति को छिपाकर अपने को बहुत सम्पन्न दिखलाने में व्यक्त होती है।

'कर्मभूमि' (उर्दू में 'मैदाने अमल'), जो १९३२ में प्रकाशित हुआ, देश के समसामयिक स्वाधीनता आन्दोलन की कहानी है जिसमें लेखक ने गहराई में पैठकर उसका सामाजिक विश्लेषण किया है।

'गोदान' (उर्दू में 'गऊदान'), १९३६ में प्रकाशित, की केन्द्रीय कहानी गाँव की है जिसमें कि हम एक सीधे-सादे, नेक किसान को ज़मीन्दार और महाजन और पटवारी जैसे महारथी शोषकों के चक्रव्यूह में फँसकर अपने विनाश को पहुँचते देखते हैं। यहाँ तक कि आख़िरकार होरी एक दिन अपनी किसान की मरजाद खोकर कुली-मज़दूर की तरह सड़क पीटते-पीटते सड़क पर दम तोड़ देता है।

'मंगलसूत्र' प्रेमचंद का अन्तिम और अधूरा उपन्यास है, जो उसके देहान्त के बरसों बाद प्रकाशित हुआ। उसी को लेखक के सामाजिक विश्वासों का आख़िरी दस्तावेज़ समझना चाहिए जिसमें उसने वर्ग-समाज में सत्य और न्याय की धारणा के संबंध में विचार किया है।

इन उपन्यासों के साथ ही उसकी लगभग तीन सौ कहानियाँ हैं जो उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता के विशाल क्षेत्र का पता देती हैं। यहाँ भी, उपन्यासों के समान या शायद उनसे भी कुछ ज़्यादा ही, लेखक की सामाजिक प्रतिबद्धता विशिष्ट रूप से अपने भारतीय परिवेश में से ही निकलती है। कोई भी लेखक हो, उसका वैचारिक

जगत् बनाने में संसार भर के नये और पुराने विचारकों का योग रहता है लेकिन उन विचारों को रक्त-मांस लेखक की अपनी जलवायु, अपनी धरती और अपने आकाश से ही मिलता है। वही उसकी देशीय अस्मिता का स्वाक्षर होता है। प्रेमचंद जितने गहरे रूप में अपने देश की मिट्टी से जुड़ा हुआ था, उसने जो कुछ भी लिखा है उस पर यह स्वाक्षर मिलता है।

उदाहरण के लिए 'ठाकुर का कुआँ' और 'मंदिर' में लेखक अछूतों के प्रति सवर्ण हिन्दू समाज के इस भीषण अन्याय के विरोध में अपने क्षोभ को वाणी देता है कि अछूत का मन्दिर में जाना या सवर्णों के कुएँ से पानी लेना तक निषिद्ध कर दिया जाये !

'नमक का दारोगा' में लेखक अपने समाज की उस व्यापक बीमारी, घूसख़ोरी, को अपना निशाना बनाता है।

'सवा सेर गेहूँ' महाजनी शोषण की कहानी है, कुछ वैसी ही दु:स्वप्न जैसी जो काफ़्का की कहानियों का रंग है, जिसमें सवा सेर गेहूँ जो कभी उधार लिया गया था जन्म-जन्मांतर तक उस बेचारे किसान की दासता का कारण बन जाता है।

'राजा हरदौल' और 'रानी सारंधा' रजपूती शौर्य की कहानियाँ हैं जो लेखक को अपने महोबा-प्रवास में बुन्देली लोककथाओं से मिली होंगी।

'बालक' एक सीधे-सच्चे किसान की कहानी है जो एक ऐसी स्त्री से विवाह करता है जो किसी और आदमी से पहले से गर्भवती है। जब गाँववाले यह बात उसके कान में डालते हैं तो वह एक ऐसी बात कहता है जो उनको अचंभे में डाल देती है : उस बच्चे को मैं अपना ही बच्चा समझता हूँ। मैंने एक बोया हुआ खेत लिया तो मैं उसकी फ़सल को क्या सिर्फ़ इसलिए छोड़ दूँ कि और किसी ने उसको बोया था ! ... गाँववालों को यह एक बड़ा विचित्र तर्क मालूम होता है लेकिन आज जब हम उस कहानी को पढ़ते हैं तो वह यौन नैतिकता की एक ऐसी स्वस्थ, मुक्त, आधुनिक अवधारणा के रूप में हमारे सामने आता है जो हमें और भी आश्चर्य में इसलिए डाल

देता है कि उस बात को कहनेवाला एक अनपढ़ किसान है।

'दो बैलों की कथा' अपने नाम के अनुरूप दो बैलों की कथा है जो आपस में आदमियों की तरह बात करते हैं और जिनमें अद्‌भुत मैत्री है। एक बार उन दोनों को उनका मालिक अपनी ससुराल भेज देता है। ये दोनों बैल हीरा-मोती समझते हैं कि उन्हें बेच दिया गया है जो बात उन्हें अच्छी नहीं लगती। अपने नये स्थान पर उनके साथ दुर्व्यवहार भी बहुत होता है, ढंग से सानी-भूसा भी नहीं दिया जाता और कुछ भी मिनकने पर डंडे से उनकी पूजा होती है। फलतः दोनों वहाँ से भागने का संकल्प करते हैं और लड़ते-भिड़ते वापस अपने थान पर पहुँच जाते हैं। कहानी की व्यंजना है, पराधीनता पर स्वाधीनता की उत्कट कामना की विजय।

'कफ़न' एक परजीवी शोषक समाज में मनुष्य के अमानवीकरण की कहानी है।

'पूस की रात' एक किसान की कहानी है जो जाड़े-पाले में रात पर रात अपने खेत की रखवाली के लिए अपने कुत्ते को साथ लेकर वहीं पर सोता है और जाड़े के मारे कुड़कुड़ाता है। एक रात कुछ मवेशी उसके खेत में घुसकर उसे चर डालते हैं। इस दुर्घटना पर उसे बहुत दुःख होना चाहिए था पर उसके स्वर में तो निश्चिंतता का आनन्द है जब कि वह अपने कुत्ते से कहता है : चलो छुट्‌टी मिली इस रात-रात भर जाड़े में ठिठुरने से ! और इस तिरछी भंगिमा से वह अपने कठिन जीवन के प्रति, जहाँ रात की नींद भी आदमी को मयस्सर न हो सके, अपनी वितृष्णा तो व्यक्त कर ही देता है। उस आदमी की इस प्रतिक्रिया में तथ्य जितना भी हो या न हो, कथा का सत्य तो है ही।

'सद्‌गति' में एक गरीब हरिजन किसान अपनी बेटी की सगाई की सगुन-साइत बिचरवाने गाँव के पंडितजी के पास जाता है। पंडित जी, साइत-वाइत तो जब बिचारेंगे तब बिचारेंगे, हाथ-के-हाथ उसको एक बेगार पकड़ा देते हैं — लकड़ी का एक कुन्दा उधर उस पेड़ के नीचे पड़ा है, उसके चैले बना डालो। वह आदमी कुल्हाड़ी

लेकर पिल पड़ता है लेकिन वह कोई ऐसा-वैसा कुन्दा तो है नहीं — वह चोट पर चोट मारे जाता है लेकिन उस पत्थर लकड़ी का बाल भी बाँका नहीं होता। आख़िरकार भूखे पेट उस कुन्दे से जूझते-जूझते यह दुखिया चमार वहीं ढेर हो जाता है। उसके प्रति पंडितजी के इस अमानुषिक व्यवहार के विरोध-स्वरूप दुखिया की बिरादरी-वाले बहुत कहने पर भी उस लाश को वहाँ से नहीं हटाते। और लाश धीरे-धीरे बदबू करने लगती है। अब क्या हो? पंडितजी के सामने बड़ी विकट समस्या है। लाश को तो वहाँ से हटाना ही होगा क्योंकि वही उन ऊँची जातवालों के कुएँ का रास्ता है, लाश वहाँ से हटेगी नहीं तो वह लोग कुएँ से पानी लेने कैसे जायेंगे? आख़िर-कार पंडितजी खुद ही शाम होने पर, बरसते पानी में, जब कोई उनको यह काम करते न देख सके, दुखिया की लाश के पैर में रस्सी बाँधकर उसे घसीटकर ले जाते हैं और ले जाकर खेत में फेंक देते हैं जहाँ चील-कौए, गिद्ध-सियार उस लाश की सद्‌गति कर देते हैं!

प्रेमचंद की सैकड़ों कहानियों में यह एक सबसे अलग ही रंग की कहानी है। सामाजिक अत्याचार के ख़िलाफ़ ऐसी क्रुद्ध कहानी शायद उसने दूसरी नहीं लिखी।

और अन्त में एक हल्का-सा इशारा उस 'सभ्यता का रहस्य' नामक कहानी की ओर भी जिसमें कहानीकार सारी कहानी कह चुकने पर व्यंग्य में अपना यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि, 'सभ्यता केवल हुनर के साथ ऐब करने का नाम है। आप बुरे-से-बुरा काम करें, लेकिन अगर आप उस पर पर्दा डाल सकते हैं तो आप सभ्य हैं, सज्जन हैं, जेंटिलमैन हैं। अगर आपमें यह सिफ़त नहीं हैं तो आप असभ्य हैं, गँवार हैं, बदमाश हैं। यही सभ्यता का रहस्य है।'

इसी तरह एक के बाद एक सारी कहानियाँ देख डालिए, सबमें कोई न कोई सामाजिक संदेश व्यंजित मिलेगा — और यह सामाजिक संदेश, अपने विशिष्ट संदर्भ में, भारतीय समाज और भारतीय जनता को लेकर होगा और उस पर समसामयिक प्रामाणिक अनुभव की

मुहर होगी। इसी में प्रेमचंद की सच्ची भारतीयता है जो उसे देश के जनसाधारण का इतना अपना, सगा, आत्मीय लेखक बनाती है जिसे वह अपनी ज़िन्दगी के हर मोड़ पर, हर उतार-चढ़ाव में अपने साथ खड़ा हुआ पाते हैं।●

●यह निबंध साहित्य अकादेमी द्वारा २६ से २८ मार्च १९८१ तक नयी दिल्ली में आयोजित एक अन्तरराष्ट्रीय प्रेमचंद संगोष्ठी में पढ़ा गया। मूल अंग्रेज़ी से स्वयं लेखक द्वारा रूपान्तरित।

प्रेमचंद की रचना-प्रक्रिया और उनकी विरासत

[प्रेमचंद जन्मशती के अवसर पर कहानीकार संस्थान, वाराणसी की ओर से आयोजित होनेवाली प्रेमचंद प्रदर्शनी के लिए सम्बन्धित सामग्री को प्राप्त करने के लिए 'कहानीकार' के सम्पादक भाई कमल गुप्त मेरे पास आये थे। उसी अवसर पर उन्होंने अपनी पत्रिका के प्रेमचंद जन्मशती विशेषांक के लिए मुझे इंटरव्यू किया था। वही बातचीत आपके समक्ष यहाँ प्रस्तुत है।]

क० — अच्छा अमृत भाई, प्रेमचंद की रचना-प्रक्रिया क्या थी, जैसे ये कि वे लिखते कब थे ? कैसे थे ? या फिर जैसे मूड की बात कही जाती है, वो क्या उनके साथ भी लागू थी ? कहाँ से जुटाते थे कथ्य ? यद्यपि ये सवाल पूरी तरह सब्जेक्टिव हैं, बिल्कुल निजी, पर चूंकि आप उनके बिल्कुल क़रीब रहे हैं, सब कुछ देखते हुए, सुनते हुए, महसूस करते हुए, इसलिए आप शायद कुछ रोशनी डाल सकें। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि प्रेमचंद ने अपनी रचना-प्रक्रिया जैसी किसी बात के बारे में कहीं कुछ कहा नहीं है।

अ० — देखिए कमलगुप्त जी, पहली बात तो ये है कि आप मुझसे मेरी रचना-प्रक्रिया के बारे में पूछें, तब तो मैं कुछ जवाब दे सकता हूँ, लेकिन दूसरे की रचना-प्रक्रिया के बारे में कुछ कहना तो बड़ा कठिन लगता है।

क० — आप प्रेमचंद के लिए 'दूसरे' की रचना-प्रक्रिया कैसे कह सकते हैं जिनकी हर बात के आप प्रत्यक्षदर्शी रहे हैं, बिलकुल क़रीब ...

अ० — हाँ, लेकिन फिर भी बाहर, फिर भी दूर...

क० — लेकिन फिर भी क़रीब ...

अ० — क़रीब होते हुए भी जो उनकी रचना की प्रक्रिया है वह दूसरे स्तर पर हो रही है और वह नज़र नहीं आ रही, पास होने से कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ता। किसी बात को क्योंकर उनका मन पकड़ता था, कैसे वह बात उनके भीतर आती थी, फिर कैसे वह कहानी या उपन्यास की शक्ल ले लेती थी, वह सारी बात तो नज़र आती नहीं।

क० — हाँ, वह तो एक आन्तरिक प्रक्रिया के तहत होता है।

अ० — वही तो बात है। अब इसके बारे में उन्होंने कभी कहीं कुछ लिखा हो, ऐसा भी नहीं। फिर, मैं उस समय काफ़ी छोटा था और ऐसी किसी बात को जानने के अयोग्य भी था। फिर भी एक जगह जहाँ बात आयी है और काफ़ी ढंग से आयी है उसे मैं बताना चाहूँगा यहाँ। मैं कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का संस्मरण उद्धृत करना चाहूँगा। वे कहते हैं कि 'एक बार मैं उनके पास बैठा उन्हीं की चीज़ पढ़ रहा था, वे कोई कहानी लिख रहे थे। तभी आ गये हिन्दी के एक बहुत बड़े साहित्यकार। उन्होंने क़लम रख दी। उनसे दो घण्टे तक वे बातें करते रहे फिर उन्हें ज़ीने तक पहुँचाकर वापस आये तो फिर वहीं से अनावरोधित लिखने लगे। जब लिख चुके तो मैंने पूछा कि इस व्यवधान से आपका मूड ख़राब नहीं हुआ ? वे चौंकते हुए से बोले, मूड ? मैंने कहा — मूड यानी मू उ उ ड। आख़िर मूड आने पर ही तो लेखक कुछ लिख सकता है। वे बोले — तो आपको भी मूड की झक सवार है ! भाई जान, मूड का मतलब है लिखने को जी चाहे और मेरा हाल ये है कि जब मैं क़लम उठाता हूँ तो लिखने को जी चाहने लगता है, और आप भी अगर शागिर्दी करने को तैयार हों तो मैं आपको वह गुर बता दूँ कि आपका जी भी, जब आप चाहें लिखने को करने लगे। आप एक समय तय कर लें और उस समय के पाबन्द रहें। फिर तो मूड टेबुल पर आपका इन्तज़ार करता रहेगा। सुबह निपट-धोकर आप टेबुल पर बैठ जायें। न कुछ लिखते बने तो दोस्तों को चिट्ठी-पत्री ही लिखें, पाँचवें दिन आपका मूड आपका गुलाम हो जायेगा।'

प्रभाकर जी ने और एक जगह लिखा है — वे जब चाहते तब

लिख सकते थे। उन्हें किसी बाहरी उपकरण की आवश्यकता नहीं होती थी। मैं उनसे एक बार पूछ रहा था — आप कैसे काग़ज़ पर और कैसे क़लम से लिखना पसन्द करते हैं ? वे बहुत ज़ोर से हँसे और बोले — ऐसे काग़ज़ पर जिस पर कुछ लिखा न हो और ऐसे क़लम से जिसकी निब टूटी हुई न हो ! अरे भाईजान, ये सब चोंचले मज़दूरों के लिए नहीं हैं ...

क० — बात तो बहुत उम्दा कही है। मुझे याद है कि आपने भी 'कहानीकार' में छपे 'मैं अपनी नज़र में' स्तम्भ के लेख में कुछ ऐसी ही बात अपने बारे में लिखी है कि एक निश्चित समय पर आप पूरी मुस्तैदी के साथ लिखने बैठ जाते हैं और अपनी बातों को टाइप-राइटर पर सीधे उतारते जाते हैं; वह वक्त आपके मूड का होता है।

अ० — कही होगी। मैं तो ये मानता हूँ कि आदमी अपने मूड पर खुद सवारी करे, ऐसा नहीं कि मूड ही उस पर सवारी करने लगे। हाँ, ये ज़रूर है कि जहाँ तक मेरे सर्जनात्मक लेखन का सम्बन्ध है, मैं कमरे को चारों ओर से बन्द करके लिखता हूँ। दरवाज़े उस वक़्त कोई खुले न हों तो लिखने को जी चाहने लगता है।

क० — मतलब ये कि दिल-दिमाग़ के दरवाज़े खोलने के लिए कमरे के दरवाज़े ज़रूर बन्द हों, क्यों ?

अ० — यही समझिए। कमरे के दरवाज़े बन्द होते ही दिल-दिमाग़ के दरवाज़े खुलने लगते हैं।

क० — वो कमरा अपने इसी रिहाइश की जगह का ही हो या ...

अ० — कहीं का भी हो इससे मुझे फ़र्क़ नहीं पड़ता — बस इतना हो कि उसके दरवाज़े बन्द होने लायक हों, खुले दरवाज़ों के रहते तो मैं और सब लिख सकता हूँ, पर अपना सर्जनात्मक लेखन नहीं।

क० — आपका मतलब क्रियेटिव और नॉन-क्रियेटिव से है ?

अ० — जी हाँ, क्रियेटिव राइटिंग करते वक़्त अपने भीतर यात्रा करने में उससे बड़ी सहायता मिलती है। उस वक़्त मैं बाहर की दुनिया से एक तरह से कट गया रहता हूँ।

क० — क्या कुछ इस तरह की मनःस्थिति प्रेमचंद के साथ भी थी ?

अ० — नहीं, ऐसी कोई बात उनके साथ नहीं थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि वे जिस कमरे में लिखते थे, उसमें भी हम लोग ऊधम मचाया करते थे, पर वे लिखते रहते थे।

क० — अच्छा, अच्छा! आपका मतलब है कि वे अपने में डूबे हुए अनडिस्टर्ब्ड लिखते रहते थे ...

अ० — बिल्कुल। उनका इस तरह लिखना उनके गहरे कन्सेन्ट्रेशन की सूचना देता है, साथ ही उनकी इस मजबूरी की भी कि ग़रीब के पास लिखने का कोई अलग कमरा था ही नहीं, वे कमरे का इन्तज़ार करते बैठे रहते तो शायद लिख ही न पाते।

क० — हाँ, उन्होंने तो लिखा भी है कि बमुश्किल चारपाई भर डालने की जगह निकालकर मैं उस पर काम करता हूँ; सोचता हूँ, बैठता हूँ, लिखने का काम करता हूँ।

अ० — हाँ, उन्होंने उस तरह से अपने को ढाला पर मैं जब अभी छोटा ही था और युनिवर्सिटी में था तब कमरा बन्द करके ही लिखता था — शायद वही चीज़ धीरे-धीरे आदत बन गयी, मेण्टल कंडिशनिंग। मूड का यह सारा व्यापार कंडिशनिंग का ही खेल है, कंडिशनिग समय की भी, और स्थान की भी, और शायद स्थान से भी अधिक समय की। मेरा ख़याल है कि इससे अलग मूड कुछ और नहीं। वह एक तरह का रिफ़्लेक्स है, कण्डीशण्ड रिफ़्लेक्स, जो बनाया जा सकता है, और तब उसी को आप साधना कहते हैं, समाधि कहते हैं, आसन मार के बैठना कहते हैं। कुछ भी नाम दे लीजिए, चीज़ वही है। एक जगह जिसे आप सरस्वती का मन्दिर कह लीजिए, एक समय जिसे आप अपनी साधना का समय मानें, यही कुल बात है, और जहाँ तक मेरी बात है, मुझे तो लगता है कि कमरे के दरवाज़ों को बन्द करने के साथ ही मेरे भीतर फ़िज़िकल स्तर पर जैसे जूसेज़ रिलीज़ होने लगते हैं।

क० — आपको इस तरह की अनुभूति किसी समय और किसी भी जगह होने लगती है या कि वह भी नियम की पाबन्द है?

अ० — उसी नियम की जिसके बारे में मैं अभी आपको बता रहा था। मेरी पत्नी ने उन दिनों जब हमारा बेटा कई साल से विदेश में

था और इस बड़े से घर में बस हमीं दोनों रहते थे, कुतूहलवश मुझसे पूछा कि मैं ऐसे एकान्त में भी आख़िर क्यों अपना कमरा लिखते वक़्त बंद कर लेता हूँ तो मैंने कहा — आई डोण्ट शट एनीबडी आउट, आई शट माईसेल्फ़ इन। तो मेरा मन तो कुछ ऐसे ही ढल गया है। मुंशीजी को ज़्यादा मुश्किल स्थितियों में अपने को ढालना था तो उन्होंने उस तरह से किया। लेकिन ये जो समय की बात मैंने कही वह तो बहुत ही ज़रूरी है।

क० — तो ये समय काफ़ी रात गये का भी हो सकता है जब मुंशीजी रात को उठे हों और लिखने बैठ गये हों। क्या आपने उन्हें ऐसे भी देखा है?

अ० — नहीं, देखा तो नहीं पर सुना ज़रूर है कि जब वे हमीरपुर में थे और जब उनकी तबियत कुछ ज़्यादा ही ख़राब थी, उस समय रात के वक़्त कभी भी उठ जाते और लिखने बैठ जाते। लालटेन को सोते वक़्त वे बुझाते नहीं थे, बल्कि बहुत मद्धिम करके रखते थे ताकि उसे जलाने की झंझट न करनी पड़े। पर इस तरह रात गये तक काम करने को शिवरानीजी पसन्द नहीं करती थीं क्योंकि उसका असर सेहत पर बुरा पड़ता था। वैसे जबसे मैंने देखा, उन्हें दिन में ही काम करते देखा है और रात में साढ़े दस से अधिक उन्हें काम करने नहीं दिया जाता था। उसके बाद वे खाना खाते थे फिर सोने चले जाते थे। सुबह जल्दी उठने की उनकी आदत थी। मुँह अंधेरे उठ जाते थे, फिर घूमने चले जाते और लौटकर, नाश्ता-वाश्ता करके फिर लिखने बैठ जाते। यही उनकी लेखन-प्रक्रिया थी; अब रही आन्तरिक प्रक्रिया की बात तो उसका हाल मैं क्या जानूँ। हाँ, इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि उनकी डायरियों में कभी-कभी उनके कथाबीज टँके रहते थे।

क० — जैसे?

अ० — अब जैसे बता पाना तो सरेदस्त ज़रा मुश्किल है।

क० — फिर भी कुछ फ्लैशेज ...

अ० — अब जैसे कोई बात उनके दिमाग़ में कौंधी तो उसे वे अननोटिस्ड नहीं जाने देते थे, अपनी डायरी में टाँक लिया करते

उस कथाबीज को। इसे एक तरह से 'मेमोरी एड' कह सकते हैं ...

क० — सही बांत है। ये सब तो इन्ट्यूटिव फ्लैशेज़ होते हैं, खो गये तो फिर दोबारा तो मिलने से रहे।

अ० — बिल्कुल यही बात है। जब ऐसी कोई बात खो जाती है तो लाख सर मारो याद नहीं आती। फिर बहुत पछतावा भी होता है। इसीलिए मुंशीजी अकसर टाँक लिया करते थे। अब अपने एकान्त क्षणों में वे उस सूत्र को किस तरह जोड़ते-घटाते थे, वह टाँकी हुई बात किस तरह कहानी की शक्ल लेती थी, इसके बारे में तो मैं कुछ भी नहीं बता पाऊंगा आपको।

क० — ठीक है, पर आपको ये तो याद होगा कि रचना मुंशीजी ने लिखी, उसके साथ जुड़े वे गाँव, गाँव के लोग, गाँव के पात्र आदि जो उनके रचना-संसार की हिस्सेदारी करते थे, उनको तो आप पहचानते होंगे ?

अ० — कुछ को पहचानता हूँ पर रचना में सिर्फ़ वही हों, पूरे तौर पर, यह मुमकिन नहीं होता।

क० — मैं भी तो पूरे तौर की बात नहीं कह रहा; मैं तो कुम्हार की कच्ची मिट्टी की बात कह रहा हूँ जिसे अपनी रचना-प्रक्रिया के घूमते चाक पर रखकर वो उस कच्ची मिट्टी को तरह-तरह की शक्ल देते थे ...

अ० — हाँ, पर उसे शक्ल देने में जो कल्पना का अंश है वह ज़रूरी है और यही बात नितान्त रूप से उनकी अपनी है, बिलकुल निजी।

क० — आप ठीक कहते हैं, लेकिन वहाँ पर सवाल सिर्फ़ कल्पना का ही नहीं है। कल्पना के साथ उस कच्ची मिट्टी में, उन्होंने थोड़ा आदर्श मिलाया, थोड़ा मक़सद, उसका उतार-चढ़ाव, वो सारी चीज़ें जो टेक्सचर के रूप में ज़रूरी थीं ...

अ० — पर मैं समझता हूँ कि ये सारी बातें टेक्सचर का हिस्सा नहीं बनतीं। दरअसल यथार्थ के जिस हिस्से को आप रूपायित करना चाहते हैं, कल्पना उसे बॉडी देती है, बनी-बनायी और सुनी-सुनायी

बात को लेकर यदि कहानी लिखी गयी है तो वह कहानी नहीं है।

क० — बेशक वह तो रिपोर्टाज बन जायेगी।

अ० — हाँ, अब यहाँ पर यह जो कोलरिज ने फ़ैंसी और इमैजिनेशन की बात कही है तो फ़ैंसी तो तिलिस्म की चीज़ हो गयी, लेकिन जो इमैजिनेशन है, कल्पना, वही ख़ास बात है कहानी के साथ …

क० — कोलरिज की बात पर मुझे उसकी 'कुब्ला खाँ' कविता की याद ताजा हो आयी जो सम्पूर्ण कविता उसने स्वप्न में देख ली थी और उसी में डूबा हुआ उसे लिख रहा था कि किसी व्यक्ति ने उसके उस कमरे का दरवाज़ा खटका दिया और उसकी उस सारी फ़ैंसी का एक बड़ा हिस्सा बिखर गया …

अ० — एक बात मैं भी कहूँ गुप्तजी, आज से वर्षों पहले एक ज़माने तक इस तरह के सपने मुझे आते थे और मैं सपने में अपनी आँख के सामने लाइन्स लिखी हुई देखता था जो कि कविता की लाइन्स होती थीं। मुझे इतना लोभ हुआ कि मैं अपने सिरहाने क़लम और काग़ज़ लेकर सोने लगा कि ज्यों ही मुझे ये लाइन्स दिखेंगी और अगर मेरी आँख खुल जाती है तो फ़ौरन बेडसाइड लैम्प जलाकर उसे लिख डालूँगा लेकिन वो दिन था और आज का दिन है कि फिर वो सपना आया ही नहीं …

क० — जिस दिन से स्वागत के लिए तैयारी की, वह दग़ा दे गया !

अ० — हाँ, उसके पहले कम-अज़-कम एक दर्जन बार तो आया ही होगा। मैं देखता, अक्सर देखता, कि कविता की अठारह-बीस पंक्तियाँ हैं, मैं उन्हें पढ़ भी रहा हूँ, पर ठीक से नहीं पढ़ पा रहा हूँ। सोचता था कि उन्हें उतार लूँ, बड़ी नायाब चीज़ें होंगी, पर जब तैयारी की तो साला ग़ायब ही हो गया।

क० — दिस शोज़ दैट राइटिंग इज़ प्योरली इन्ट्यूटिव, पर्टीक्यूलरली क्रियेटिव राइटिंग…

अ० — और भी चीज़ें होती हैं …

क० — हाँ, होती हैं बट द स्पार्क इज़ ऑलवेज़ इन्ट्यूटिव ...

अ० — हाँ, स्पार्क ज़रूर इन्ट्यूटिव होता है पर आदमी उसके बारे में इतना कम जानता है कि उसे पकड़ नहीं पाता।

क० — इसीलिए उसे टाँक लेना ज़रूरी होता है जो कि मुंशीजी हमेशा कर लिया करते थे।

अ० — हाँ, पर वो तो कथाबीज की बात है। मैं तो वह सपनेवाली बात बता रहा था जो इनहिबिशन के कारण लुप्त हो गयी। पर मैं जो इमैजिनेशन की बात कह रहा था वो इसलिए कि इमैजिनेशन का जो सबसे बड़ा रोल होता है वह होता है कोऑर्डिनेशन का। तो इस तरह जो सारा रचना-संसार है, यह जो सारा ब्रह्माण्ड है इस पिण्ड में समाया हुआ, उसे देख पाना यह काम कल्पना का है; उसके अनेक पहलुओं में, आसंगों और प्रसंगों में कोऑर्डिनेशन स्थापित करना यह काम कल्पना का है ...

क० — लेकिन ये भी ज़रूरी है कि कल्पना न तो कोरी कल्पना हो और न ही छद्म कल्पना हो ...

अ० — हाँ, पर ऐसी ड्राइ और डिसकर्सिव रीज़निंग भी नहीं होनी चाहिए कि साहब हमें पेड़ का बोलना तो सुनायी नहीं पड़ता ! बेशक, पेड़ का बोलना पागलपन की बात है लेकिन किसी कहानी के फ्रेम के भीतर जब ये बात आयेगी और सफल ढंग से आयेगी तो वो एक ऐसा मनोवैज्ञानिक सत्य बन जायेगा कि सहज लगेगा; कल्पना उसको वास्तविक बना देगी।

क० — ख़ैर, वो बात तो हम फ़िल्मों में भी देखते हैं। किसी विशेष भाव को व्यक्त करने के लिए कली को चिटकता हुआ दिखाया जाता है, या कहीं पक्षियों के एक खूबसूरत जोड़े की उपस्थिति अपनी बात कह जाती है, अर्थात् प्रतीकात्मक ढंग की संप्रेषणीयता का सहारा लिया जाता है। तो ये बात तो अलग है। कहानी में भी इस तरह के प्रयोग को तो आज की चीज़ मानेंगे, आज के लेखन की उपलब्धि के रूप में स्वीकार कर लेंगे, लेकिन वो हितोपदेश के तरीक़े के अनुसार कबूतर का बोलना, पेड़ों का बोलना, इसके लिए

तो यहाँ कोई जगह नहीं है। हमारा लेखन प्रतीकात्मक संप्रेषणीयता में जिस तरह से सफल है, वह आज की उपलब्धि है। आप इसके लिए चेखव को ले सकते हैं, प्रेमचन्द को ले सकते हैं, पर मेरा कहना ये है कि प्रेमचन्द का ढंग ज़्यादा बेहतर है। अब 'कफ़न' कहानी को ही लें। ऊपरी तौर पर तो निहायत अनएक्सेप्टेबुल कहानी लगती है, यदि केवल थीम को सामने रखा जाय, क्योंकि यह लिखना कि आदमी इतना घिनौना हो गया है, गिर गया है, यह सोचा भी नहीं जा सकता। प्रेमचन्द ने इसे देखा होगा, ऑब्ज़र्व किया होगा और फिर कल्पना के ज़ोर से उसको सँवार कर सामने रख दिया। कल्पना के साथ ऑब्ज़र्वेशन भी बड़ी चीज़ होती है !

अ० — हाँ, बात की तीव्रता को बढ़ाने के लिए कल्पना का पुट दे दिया गया पर ये सावधानी भी रखी गयी कि कल्पना का पुट कहीं इतना भारी न हो जाय कि कहानी झूठी लगने लगे। कहानी जिस बात को लेकर चली, वह कल्पना के योग से कहानी में अतिरिक्त इन्टेसिफ़िकेशन को पैदा कर सकी या नहीं।

क० — मेरा यही कहना है कि मात्र कल्पना ही रचना के लिए पर्याप्त नहीं है बल्कि उन सारे तथ्यों का ट्रीटमेण्ट ही महत्वपूर्ण है। जहाँ तक 'कफ़न' कहानी की बात है, वह ट्रीटमेण्ट में काफ़ी सशक्त रचना है और प्रेमचन्द को एक बड़ी ऊँचाई पर लाकर प्रतिष्ठित कर देती है।

अ० — चेखव की कहानी 'क्लर्क की मौत' के सिलसिले में भी तो यही बात है। वहाँ भी कहानी का मज़बूत ट्रीटमेण्ट कहानी को जीवन्त और विश्वसनीय बना जाता है।

क० — नहीं, यहाँ पर मैं आपसे सहमत नहीं हूँ। उस कहानी का ट्रीटमेण्ट ही तो कमज़ोर है। उसमें क्लर्क की जो मौत है, वह अत्यन्त असहज प्रतीत होती है जब कि 'कफ़न' कहानी में जो डेथ है वह अत्यन्त सहज है।

अ० — 'कफ़न' कहानी की जो डेथ है वह तो बेमतलब की डेथ है। जहाँ तक कहानी के मुख्य पात्र घीसू और माधव हैं, यह कहानी

तो दरअसल उन पात्रों की कहानी है, डेथ तो पृष्ठभूमि में है ...

क० — नहीं, वह डेथ उन पात्रों की संवेदनाशून्यता की परिचायक है, उनकी क्रुएल्टी की, नृशंसता की ...

अ० — पर है तो पृष्ठभूमि में ?

क० — नहीं, वह पृष्ठभूमि में भी नहीं बल्कि कहानी का अत्यन्त सहज और स्वाभाविक हिस्सा है ।

अ० — फिर, इस कहानी की डेथ को चेखव की कहानी में हुई डेथ के बराबर मत रखिए क्योंकि उस कहानी में पात्र के मन में जो हॉरर की, उसके टेरर की जो अभिव्यक्ति है, वह सामने आती है ।

क० — पर उस हॉरर को दिखाने के लिए क्लर्क की फ़िज़िकल डेथ को दिखाना ही कहानी को असहज बना जाता है । फ़िज़िकल डेथ की जगह उसकी मानसिक डेथ को दिखाकर बात कही जा सकती थी और फिर उस तरह कहानी को असहज होने से बचाया जा सकता था और तब वह कहानी काफ़ी एक्सेप्टेबुल भी लगती ।

अ० — भई गुप्त जी, मैं आपकी बात से सहमत नहीं हो पा रहा हूँ क्योंकि मैं उस कहानी को चेखव की सबसे खूबसूरत कहानियों में से एक मानता हूँ और वह मुझे कभी भी अनएक्सेप्टेबुल नहीं लगी, बिकॉज़ दैट डेथ इज़ रिफ़्लेक्टिंग ए साइकोलॉजिकल रिएलिटी इन फ़िज़िकल टर्म्स । ठीक उसी तरह घीसू और माधव की जो अमानवीयता है, अमानुषिकता है, वह मुझे कभी भी अनकंविंसिंग नहीं लगी ।

क० — हाँ, यहाँ तो कुछ भी अनकंविंसिग नहीं लगता, पर चेखव की कहानी डेथ के मुक़ाम पर अनकंविंसिग तो लगती ही है । हो सकता है कि चेखव ने उस ज़माने में रूस में व्याप्त आम आदमी के भीतर के हॉरर को, भय और त्रास को, दिखाने के लिए क्लर्क की मौत दिखा दी हो, पर यह मौत अनकंविंसिग लगती है ।

अ० — बेशक यह मौत रूसी बैकग्राउण्ड के हॉरर को व्यक्त करने के लिए ही दिखायी गयी है । इस तरह कहानी को देखने का हमारा-आपका नज़रिया एक है । शुरू से लेकर आख़ीर तक ।

क० — नहीं, शुरू से ज़रूर हो सकता है कि नज़रिया एक हो लेकिन चेखव की कहानी के अन्त को लेकर में सहमत नहीं हो पा रहा हूँ।

अ० — देखिए, यह मौत उस रूसी बैकग्राउण्ड के हॉरर को हाइटेन करने के लिए दिखायी गयी है।

क० — पर यह ज़रूरत से ज़्यादा किया गया है जब कि प्रेमचंद की ख़ासियत है कि वे कोई विशेष प्रभाव पैदा करने के लिए कभी भी ज़रूरत से ज़्यादा किसी घटना को उछालते या खींचते नहीं।

अ० — देखिए गुप्त जी, 'कफ़न' कहानी के खिलाफ़ भी शुरू में ये बातें उठायी गयी थीं कि ये बिल्कुल अनकर्विसिग कहानी है।

क० — हाँ, मैं इसे मानता हूँ पर अन्ततः उस कहानी के सशक्त ट्रीटमेण्ट के आगे लोगों ने घुटने टेक दिये और उसे हर दृष्टि से अत्यन्त सहज कहानी भी मान लिया। 'कफ़न' कहानी की घटनाओं की सहजता कहानी को ऑथेण्टिकेट करती है पर उस तरह की कोई भी ऑथेण्टिसिटी 'क्लर्क की मौत' कहानी के साथ हम नहीं पाते।

अ० — देखिये, सही तौर पर देखा जाय तो दोनों ही कहानियाँ एक मायने में यथार्थवादी कहानियाँ हैं तो दूसरे मायने में एब्सर्ड कहानियाँ हैं जिनमें रिएलिटी ट्विस्टेड फ़ॉर्म में उसी प्रकार आती है जिस तरह एब्सर्ड प्लेज़ या एब्सर्ड पोएट्री में ...

क० — पर भाई मेरे, मैं जिस तरह 'क्लर्क की मौत' कहानी के अन्त की बात को लेकर आपसे डिफ़र कर रहा हूँ, उसी तरह आपकी इस बात से भी कि ये दोनों ही एब्सर्ड कहानियाँ हैं जिनमें रिएलिटी ट्विस्टेड फ़ॉर्म में आती है। मैं फिर कहना चाहूँगा कि यहाँ इन दोनों कहानियों में ट्विस्टेड रिएलिटी नहीं है।

अ० — एवरेज भी तो नहीं है क्योंकि आप शुरू से उसी एवरेज के तथ्य से उन कहानियों को जाँच रहे हैं ...

क० — नहीं, आप तो ट्विस्टेड की बात कह रहे हैं। एवरेज और ट्विस्टेड में फ़र्क़ हो गया। एक कहानी अनकॉमन कहानी हो सकती है, पर फिर भी वह भी कॉमनैलिटी के साथ-साथ चलती

है, थोड़े फ़ासले पर रहते हुए। कहीं न कहीं वह कॉमन तो होती ही है, वह परसेण्टेज एक हो सकता है दो हो सकता है लेकिन ट्विस्ट में तो आरोपण हो गया।

अ० — छोड़िए इस बहस को। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि लेखक एक विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिए उसमें कौन-कौन से उपादान और उपकरण उपयोग में ला रहा है, इसको जाँचने-परखने में बहुत सावधानी बरतने की ज़रूरत है।

क० — बेशक, मैं इसे मानता हूँ।

अ० — तो फिर बात ख़त्म हुई, क्योंकि चेखव वहाँ पर यही तो कर रहा है, जिसके लिए आप नपने नहीं बना सकते।

क० — बेशक मेज़रमेण्ट नहीं हो सकता पर दृष्टि का मेज़रमेण्ट ज़रूरी था और वह है किसी कहानी की सहजता ...

अ० — सहजता तो खुद ही डिफ़ाइन नहीं की जा सकती ...

क० — ये तो आपका गढ़ा हुआ, चलाया हुआ शब्द है, फिर आप कैसे यह कह सकते हैं। आप ही उसे अनडिफ़ाइन्ड कहें तो हैरत है।

अ० — अनडिफ़ाइण्ड इस मायने में कि जो चीज़ मेरे लिए सहज हो सकती है, वह आपके लिए असहज हो सकती है ...

क० — इसीलिए मैं कहता हूँ कि चेखव की वह कहानी वहाँ के लिए सहज हो सकती है, यहाँ के स्तर पर नहीं, जब कि प्रेमचंद की कहानी 'कफ़न' यहाँ के स्तर पर भी सहज है और वहाँ के स्तर पर भी ...

अ० — पर मेरी समझ में तो चेखव की कहानी भी यहाँ-वहाँ सभी स्तरों पर सहज है। मैं कहता हूँ कि हिटलर के हॉरर को डिपिक्ट करने के लिए या रूसी संत्रास को दर्शाने के लिए चेखव के ढंग पर यदि रचना सामने आये तो बुरा क्या है?

क० — बुरा क्या है? बुरा यही है कि कहानी असहज कहलायेगी।

अ० — सहजता क्या है? कोई मर गया इसको आप ज़रूरत

सें ज़्यादा महत्व क्यों दे रहे हैं ?

क० — वाह, यही तो कहानी का वो हिस्सा है जिसके ज़रिए वह कहानी में छिपी सारी बात को देना चाहता है ...

अ० — तो दिया न ?

क० — ग़लत ढंग से दिया — बिलकुल ...

इसी बीच मेरी पत्नी सुधा मुसकराते हुए, हमारे बीच आकर बैठ गयी और उसने जानना चाहा कि आख़िर काहे को लेकर ऐसी गरमा-ग़रम बहस हो रही है। उसकी जिज्ञासा को शान्त करते हुए मैंने 'क्लर्क की मौत' कहानी का संदर्भ उसको बताया तो उसने कहा — तो इसमें बात क्या हो गयी ?

अ० — भाई कमल जी को एतराज़ है कि कहानी में क्लर्क का मारना उसे अनरियल बना देता है ...

सु० — अरे तो काफ़्का भी तो आदमी को एक कीड़ा बना देता है, तो वो क्या कहानी को अनरियल बना देता है ?

क० — वो तो शत प्रतिशत फ़ैण्टेसी है जबकि ये फ़ैण्टेसी नहीं है।

अ० — ये भी फ़ैन्टेसी है (अमृत भाई और सुधाजी एक साथ बोले) बिलकुल फ़ैन्टेसी है (अमृत भाई ने कहा) कहाँ पर ये फ़ैन्टेसी और रियेलिटी किस सीमा तक मिलती हैं, यह हम-आप बताने की स्थिति में नहीं हैं। रियेलिटी में फ़ैन्टेसी घुसी पड़ी रहती है और फ़ैन्टेसी की ऐसी कोई रचना नहीं है जिसमें रियेलिटी न हो।

क० — मैं मानता हूँ इसे।

अ० — दरअसल उनका जो तालमेल होता है, वह कब किस अनुपात में होता है, ये उतनी आसानी से नहीं जाना जा सकता।

क० — बस यहीं तो बात आ जाती है, एक्सेप्टेबुल अनुपात और अनएक्सेप्टेबुल अनुपात की।

अ० —देखिए आपने फिर सबजेक्टिव मानक खड़े कर दिये, जब कि यहीं पर तीन व्यक्ति बैठे हुए हैं जिनमें से दो को वह कहानी एक्सेप्टेबुल लग रही है और आपको नहीं लग रही है। तो इस सबजे-

क्टिव मानक से हम ज़्यादा दूर तक नहीं जा सकते। मोटी बात ये है कि रियेलिटी और फ़ैण्टेसी की मिलावट हर चीज़ में है। रियलिस्टिक कहानी में भी फ़ैण्टेसी का योगदान होता है। उसी प्रकार हर फ़ैण्टेसी कहानी में भी रियेलिटी का योगदान होता है; उनका ये जो स्पेक्ट्रम है, वह इतना विराट् है कि उसको किसी सीमा में बाँधा नहीं जा सकता, और उसकी बात भी की जा सकती है तो किसी विशिष्ट कहानी के अपने किसी विशिष्ट संदर्भ में ही।

क० — यहाँ पर फिर मैं एक बात कहना चाहूंगा और वह ये कि रियलिज़्म को आप हर जगह पा सकते हैं और यदि उसका अनुपात ज़्यादा है तो कहानी ज़्यादा बेहतर है और अगर फ़ैण्टेसी केवल फ़ैण्टेसी है तो वो यथार्थ से दूर तिलिस्म आदि की अयथार्थवादी कहानियाँ ही मानी जायेंगी ...

अ० — पर ये तो आप दोनों के अलग-अलग होने की बात कह रहे हैं, आप उनकी बात करें न, जहाँ रियलिज़्म और फ़ैण्टेसी मिली हुई है। मैं तो इन दोनों के मिलावट की बात कर रहा हूँ।

क० — हाँ, इसीलिए कह रहा हूँ कि बहुत सम्हलकर मिलावट की जानी चाहिए और शायद चेखव ने सम्हलकर मिलावट नहीं की।

अ० — अरे भाई मेरे, वो कहानियों का बादशाह है, दुनिया में, फिर उसके लिए यह कहना ...

क० — मैं चेखव की और कहानियों के लिए नहीं कह रहा हूँ और अगर अमृत भाई, इस प्रिजुडिस के कारण आप इस बात को तय मानकर चल रहे हैं कि वो कहानियों का बादशाह है इसलिए मैं आपकी बातें कुबूल कर लूँ तो आप ऐसा कर सकते हैं, वैसे मैं तो इस कहानी की मेरिट को लेकर अपनी बातें कह रहा था।

अ० — देखिए, आप मेरी बात को ये टर्न न दें। मेरे कहने का मतलब तो ये है कि पदार्थ जगत के जो तथ्य हैं वो साहित्य के सत्य नहीं होते। साहित्य का सत्य मनोवैज्ञानिक सत्य होता है, इसलिए उसको जाँचने-परखने के आले दूसरे होते हैं।

क० — आपने यह बड़ा अच्छा शब्द कहा। मनोवैज्ञानिक सत्य,

इसके साथ वस्तुतः ऐसे बहुत से दायरे हैं जिन्हें तोड़ना बेहतर नहीं होगा । अब कहानी के जो मनोवैज्ञानिक दायरे हैं, उसमें आज जो मान्यता है, उसमें तिलिस्म के लिए जगह नहीं है। हम उसमें कन्कॉक्शन और फ़ैब्रिकेशन को जगह नहीं दे सकते । हाँ, फ़ैण्टेसी है — वह एक विधा है — जिसे जगह दे सकते हैं, एक तरह से, एक सीमा तक ।

अ० — देखिए पहली बात तो मैं ये कहना चाहूँगा कि जिसे सामान्य ज्ञान में हम मेकैनिकल मैटीरियलिज़्म के नाम से जानते हैं, वो आज टूटा-फूटा पड़ा हुआ है ; आज मैटीरियलिज़्म के सीमान्त जाने कहाँ पहुँच गये हैं, जब कि कुल मैटर ऊर्जा बन चुका है, जो इन्द्रियगम्य भी नहीं है। दूसरी बात ये कि आधुनिक विज्ञान इस बात को महसूस भी कर रहा है कि बहुत-सी चीज़ों का उसके पास जवाब नहीं है। तीसरी चीज़ ये है कि आज इसी तिलिस्म की दुनिया पैरासाइकॉलोजी आदि के बारे में दुनिया के अनेक देशों की यूनिवर्सिटीज़ में भी खोज की जा रही है।

क० — पर मेरे भाई, इन सारे दायरों में प्रेमचन्द और चेखव नहीं आते। आज के लेखन पर ये मान्यताएँ आपको फ़िट नहीं करनी चाहिए क्योंकि ये पूर्ववर्ती मान्यताएँ हैं।

अ० — हाँ, ये पूर्ववर्ती मान्यताएँ हैं पर इनके परीक्षण के लिए भौतिकवाद, पदार्थवाद आज अपने को मजबूर-सा पा रहा है, इसलिए कह रहा हूँ। ये मान्यताएँ आज की नहीं हैं पर उनको आज की कहानियों के संदर्भ में भी देखा जा सकता है।

क० — आज की कहानियों के संदर्भ में नहीं। हाँ, इसके लिए आप चले जाइए उस संस्कृत वाङ्मय में जहाँ साइकिक फ़िनॉमेना को कहानियों का आधार बनाया गया है। वे अलग कहानियाँ हैं।

अ० — नहीं, वे अलग कहानियाँ नहीं हैं।

क० — अलग हैं, उन कहानियों से जो ज़मीन की कहानियाँ हैं, रियलिस्टिक कहानियाँ हैं, उनसे वे अलग कहानियाँ हैं।

अ० — नहीं, वे अलग नहीं हैं, आप ज़िन्दगी में इस तरह से

खानेबन्दी नहीं कर सकते। आप किसी रचना को उसे पूरी इकाई मानकर देखें और यह जाँचें कि वहाँ पर वह बात विश्वसनीय ढंग से आयी है कि नहीं। लेकिन सिर्फ़ इसलिए कि पेड़ बोलता है, आदमी की ज़बान नहीं बोल रही है, आप उसे नकार दें, ये नहीं चलेगा।

क० — लिटरली स्पीकिंग ये बात मानी नहीं जा सकती कि पेड़ बोल रहा है। जैसा कि तुलसीदास ने कहा है, हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी, तुम देखी सीता मृगनयनी ? तो वहाँ पर उनका इस तरह कहना एक अनरीयल कल्पना है, इसलिए स्वीकार्य नहीं है, धार्मिक आस्था के आधार पर भले ही एक्सेप्टेबुल हो जाय लेकिन...

अ० — धर्म ही नहीं मनोविज्ञान के आधार पर भी एक्सेप्टेबुल हो जायगी।

क० — मनोवैज्ञानिक ढंग से बात दूसरी हुई और लिटरली स्पीकिंग बात फ़र्क हुई। यह पेड़ का बोलना तो अविश्वसनीय है, हाँ मेरा मन बोल रहा है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य बन जाता है। यह चरित्र का मन बोल रहा है, जो उसके भीतर घटित हो रहा है, वही वह बाहर देख रहा है।

अ० — यही मैं कह रहा हूँ, यही कहना चाह रहा हूँ।

क० — तो इसमें पेड़ कहाँ बोला ? वो तो उसका अपना ही मन है, जो प्रक्षेपित हो रहा है बाहर, तो वह पात्र का ही मन बोलता है और यह मनोवैज्ञानिक है और स्वीकार्य है।

अ० — यही तो मैं भी कहना चाह रहा हूँ कि जो लिटरल फ़ैक्ट है, उसको ही साहित्य की कुल पूंजी मानकर बैठ जाना और उससे जो इधर-उधर डाइग्रेशन्स होते हैं, उनको समझना कि वो कहीं गड़बड़ा गये, ये आपकी पूरी मान्यता को बहुत ही सीमित कर देगा। मुंशी प्रेमचन्द की एक कहानी 'बलिदान' में किसान अपनी ज़मीन से निकाल दिया जाता है। उसकी ज़मीन अपहृत हो जाती है और वो इसी दुःख में मर जाता है। मरने के बाद उसका भूत मँडराता रहता है अपने खेत के इर्द-गिर्द ...

क० — देखिए, हमारे जन-जीवन की बहुत सारी प्रचलित

मान्यताएँ होती हैं। भूत एक ऐसी ही प्रचलित मान्यता है। हम इसका इस्तेमाल कहानी में कर सकते हैं, लेकिन कोई आदमी रास्ता चलते हुए, रास्ते के पेड़ और पौधों से बोलता हुआ चलता है और यदि ये भी दर्शाया जाय कि वो ठीक दिमाग का आदमी है तो इसे स्वीकार्य नहीं माना जा सकता। ऐसा आदमी या तो ओवर-ड्रंक है या पागल है। पेड़-पौधों से बातचीत करना पागलपन ही तो माना जायेगा।

अ० — नहीं, वह ऐसे ही नहीं बोल रहा है। वस्तुतः कोई कला-कृति जिसके सन्दर्भ में कोई बोल रहा है, वह देखनी पड़ेगी।

क० — देखिए, बात तो लेखक अपनी दो-चार पंक्तियों से ज़ाहिर कर देता है और अपने माहौल को चित्रित करने में अन्य पराभौतिक स्थितियों की कल्पना भी करता है।

अ० — बस, यही बात है।

क० — नहीं, बात यही नहीं है। लेखक को देखना पड़ेगा कि इन पराभौतिक स्थितियों का इस्तेमाल उसने कितनी सहजता, स्वाभाविकता, विश्वसनीयता और प्रचलित मान्यता की ग्राह्यता के तहत किया है। प्रेमचन्द की यही विशेषता उन्हें चेखव से भी कहीं-कहीं आगे कर देती है।

प्रेमचन्द के विविध सन्दर्भों से जुड़ी बातों का आयाम सामने आता जा रहा था। कमल गुप्त ने प्रेमचन्द के व्यक्तित्व, कृतित्व और उनकी प्रेरणाओं के संबंध में मेरी दृष्टि को जानने की ग़रज़ से बात को आगे बढ़ाया।

क० — अच्छा ये बतायें कि प्रेमचन्द के व्यक्तित्व और कृतित्व में से आप किससे अधिक प्रभावित हुए हैं? किसकी छाप आपके ज़ेहन पर गहरी है, क्योंकि भाग्य से आप दोनों के बहुत ही क़रीब रहे हैं?

अ० — मैं दोनों को अलग करके देख ही नहीं पाता, इसलिए इस तरह कुछ कह पाना मेरे लिए बहुत मुश्किल है। बहुत से लोगों में ऐसा होता है कि उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के बीच में काफ़ी दरार

हुआ करती है, लेकिन यहाँ वह नहीं है। यहाँ तो दोनों मिलकर एक इकाई बनती है, इसलिए मैं ये नहीं कह पाऊँगा कि कौन मेरे ज़्यादा निकट है।

क० — आप सही कहते हैं। उस आदमी का व्यक्तित्व अपनी रचनाओं की ही तरह पारदर्शी है — बाहर-भीतर एक जैसा, रचनाओं में यदि आदर्शवादी हैं तो जीवन में भी हैं, रचनाओं में यदि गांधी-वाद का प्रभाव है तो जीवन भी उससे अलग नहीं रहा।

अ० — बिल्कुल ठीक। उस आदमी के पास कहीं बनावट नहीं है, वही सादगी, वही निश्छलता। इसलिए मेरे लिए ये कहना मुश्किल है कि दोनों में कौन ज़्यादा महत्वपूर्ण है।

क० — अब एक दूसरी बात जो प्रेमचन्द के पूरे साहित्य को और जीवन-यात्रा को देखते हुए सवाल के तौर पर उभरती है, वो ये कि वो कौन से हालात थे, या प्रेरक शक्तियाँ थीं जिन्होंने प्रेमचन्द को ये रास्ता अपनाने को विवश कर दिया ?

अ० — कौन सा रास्ता ?

क० — लेखन का रास्ता। देश की आज़ादी की लड़ाई को एक वैचारिक शक्ल-सूरत देने के लिए उन्होंने क़लम ही उठा ली, आख़िर इसके पीछे कौन-सी प्रेरणा थी ?

अ० — मैं नहीं समझता कि इसके पीछे कोई बाहरी प्रेरणा थी। वस्तुतः यह अन्तःप्रेरणा थी। अब हर आदमी की बनावट अपने ढंग की होती है। उनकी बनावट इस ढंग की थी जिसके कारण इस ओर उनके लिखने की अन्तःस्फूर्ति जागी होगी।

क० — या फिर ये बात रही हो कि आसपास के किसानों की आपदाग्रस्त ज़िन्दगी को, उस पर हो रहे जुल्म को, शोषण को उन्होंने देखा, धार्मिक अन्धविश्वास और सामाजिक कुरीतियों ने उन्हें दुखी किया, उन्हें पीड़ित किया और इन सबके ख़िलाफ़ उन्होंने क़लम उठा ली।

अ० — नहीं, ऐसी बात नहीं। ये सब बातें तो दुनिया में करोड़ों लोग देखते हैं लेकिन फिर भी नहीं लिखते। इसका मतलब ये है कि-

लेखकीय क्षमता या लेखकीय स्फूर्ति उनके भीतर जब तक न हो तब तक उनकी प्रतिक्रिया का ये रूप नहीं बन सकता। ये रूप बना इस-लिए कि उस आदमी में लेखन के लिए अन्दर से एक तड़प रही होगी और फिर जिस समाज में वो रहा, जिसको देखा, समझा, उसको फिर उसने अपने ढंग से आकलित किया और अपने लिखने में उतार लाया। इतनी सी बात है, बस। रही और किसी की बात, तो आप उसे लाख प्रेरणा देते रहिए, वह आँसू बहा लेगा, लिख थोड़े ही सकता है।

क० — मुंशी जी ने आँसू तो नहीं बहाया वर्ना वो भी 'वियोगी होगा पहला कवि' की तर्ज़ में कवि ही बने होते ...

अ० — वो तो पहले ही उन्होंने मना कर दिया था जब बँगला लेखन के सम्बन्ध में ये सवाल पूछा गया कि शरतचन्द्र के बारे में आप क्या सोचते हैं तो उन्होंने साफ़ कह दिया कि वो रास्ता मेरे लिए नहीं है, वो तो बहुत ज्यादा स्मृतिजीवी और नॉस्टैल्जिक (Nostalgic) तरह का लेखन है जिस कारण उसमें एक तरह की तरलता आ जाती है, पर वो रास्ता मेरा रास्ता नहीं है, मेरी जो राइटिंग है वो तो हार्ड क़िस्म की राइटिंग है ...

क० — पर बात ये तो नहीं है। प्रेमचन्द की राइटिंग तो बहुत ही सॉफ़्ट क़िस्म की है। यहाँ तक कि उस समय भी जब गांधीवाद से उनका मोहभंग होता है और वे साम्यवादी विचारधारा से प्रभा-वित भी होते हैं, तब भी उनकी राइटिंग बारूदी क़िस्म की हार्डनेस से परे रहती है ...

अ० — हार्ड उस मतलब में नहीं, हार्ड इस मतलब में कि समाज की सच्चाइयाँ, उनसे एक सचेत आदमी का टकराव, वो है उनकी कहानी का प्राणतत्व। प्रेम की भीगी-भीगी कहानियाँ और ऐसे सब प्रसंगों से वो कटे हुए हैं।

क० — वो तो साफ़ है क्योंकि उसकी न तो उन्हें ललक थी, और न वैसी दृष्टि थी।

अ० — ललक होती भी तो नहीं लिख सकते थे ...

क० — बिल्कुल। क्योंकि वो इश्क़ के दर्द से नहीं, आदमी के दर्द से पीड़ित थे। वे दिल पर चोट खाये हुए नहीं, शोषणतन्त्र से चोट खाये हुए थे, इसलिए उनका सारा लेखन एक ख़ास तेवर का है ...

बातों के साथ-साथ चाय का दौर भी चल रहा था। गर्म-गर्म बातों के दौर में कभी चाय ठंडी हो जाती तो फिर गर्म चाय आती और बातें फिर नये सन्दर्भों से जुड़ने लगतीं।

क० — आज़ादी की लड़ाई के साथ-साथ प्रेमचन्द गाँव के शोषण के खिलाफ़ लड़ाई भी लड़ते रहे। वो लड़ाई आज भी जारी रखने की ज़रूरत है, ख़ास तौर से शोषण के विरुद्ध लड़ाई, क्योंकि ऐसी बात तो है नहीं कि प्रेमचन्द ने वो लड़ाई पूरी तरह लड़ ली है। पर अफ़सोस ये ज़रूर है कि वो लड़ाई आज छोड़ दी गयी है। आप क्या कारण मानते हैं इसके पीछे, क्योंकि समस्याएँ तो खत्म हुई नहीं हैं फिर क्यों छोड़ दी वह लड़ाई ?

अ० — किसने छोड़ दी ?

क० — आज के रचनाकारों ने।

अ० — वो जो रचनाकारों से छूटा है उसे आप अलग से क्यों देखते हैं ? वैसे अलग से देखकर भी बात की जा सकती है पर इसके लिए ज़रूरी है कि पूरी पृष्ठभूमि देखी जाय। देश की पूरी पृष्ठभूमि देखी जाय तो आप पायेंगे कि चारों तरफ़ ...

क० — पहले से भी भयानक स्थितियाँ हैं।

अ० — भयानक स्थितियाँ तो एक जगह हैं। उससे अलग जो बात मैं देख रहा हूँ वह ये कि किसी स्तर पर कोई संगठित, सचेतन, जागरूक आन्दोलन इन सब स्थितियों के विरुद्ध होता हुआ अब आप नहीं देख रहे हैं जिसके चलते गिरावट की स्थितियाँ और भी तेज़ हो गयी हैं।

क० — हाँ, समस्याएँ ज़्यादा और समाधान नदारद।

अ०— बिल्कुल। इसीलिए लेखक भी, कम-से-कम एक संप्रदाय उनका, उन्हीं स्थितियों का हिस्सा बन गया, उनका शिकार हो

गया। ये जो चारित्रिक स्खलन है, गिरावट है, उसी का शिकार वह भी है। उसको इस प्रकार शिकार बनाने में उसकी इस मनो-भावना ने मदद पहुँचायी कि साहित्य को सीधे-सीधे समाज से कुछ लेना-देना नहीं है। यही नहीं, ऐसा भी माना जाने लगा कि जो समाजपरक लेखन होता है, सोद्देश्य लेखन होता है, वह घटिया लेखन होता है।

क॰ — ये तो प्रेमचन्द के रास्ते से बिल्कुल अलग हटने की बात हो गयी। प्रेमचन्द का रास्ता तो साफ़-साफ़ यह था कि साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं, दीपक भी है। इसका मतलब तो ये है कि प्रयोजनबद्ध साहित्य ही साहित्य है और प्रयोजनविहीन साहित्य, साहित्य रह ही नहीं जाता। इस अर्थ में क्या आप ये कहना चाह रहे हैं कि आज का साहित्य साहित्य है ही नहीं क्योंकि वह प्रयोजन-हीन है ?

अ॰ — ये तो है ही, प्रयोजनहीन होने के कारण आज का वैसा साहित्य साहित्य रह ही कहाँ गया है ? क्या लेना-देना है उस साहित्य को समाज से ...

क॰ — और हमें भी क्या लेना-देना है ऐसे साहित्य से। पर सोचिए कितनी दुःखद स्थिति है।

अ॰ — बहुत दुःखद स्थिति है यह कि जो पढ़ने, लिखने और सोचनेवाला तबक़ा है वो भी इस तरह से कान में तेल डालके और आँख में पट्टी बाँध के बैठा रहे। मगर यहाँ ध्यान देने की बात है कि ऐसी एकदम स्पष्ट रूप से कलावादी पोज़ीशन ज़रा कम ली जाती है क्योंकि वह खासी गड़बड़ पोज़ीशन है, और उस पर इतनी चोट पड़ती है कि उससे कोई बच नहीं सकता, लेकिन थोड़े प्रच्छन्न रूप से, थोड़ी मिलावट के साथ, कलावादियों का एक ऐसा सेक्शन रहा है जो प्रेमचन्द की घनघोर लोकप्रियता को समझ ही नहीं पाता, और न समझने की कोशिश ही करना चाहता है। उल्टे वह तो ये समझता है कि प्रेमचन्द बासी पड़ गया, उसका लेखन तो फीका पड़ गया, पुराना पड़ गया, उसमें आधुनिकता नहीं है ...

क॰ — देखिये, वस्तुतः ये सारी बातें मूलतः इस बात से पैदा

होती हैं कि जो लोग प्रेमचन्द की सोद्देश्य लेखकीयता के आगे अपनी लेखकीयता को जस्टीफ़ाई नहीं कर पाते वह प्रेमचन्द को नकारने की क़िलेबन्दी करने लगते हैं, जो कि अपनी कमज़ोरी को छिपाने का ही एक तरीक़ा है।

अ० — मुझे भी ऐसा ही लगता है; अब आप भी कह रहे हैं तो बहुत अच्छी बात है।

क० — आप क्या समझते हैं, वह उद्देश्यहीन लेखन का दौर ख़त्म हो गया या अभी चल रहा है ?

अ० — अब ये कहना तो बड़ा कठिन है कि कोई दौर कब शुरू होता है और कब ख़त्म होता है। ऐसे दौर तो आते ही रहते हैं, नयी कहानी के समय भी आये और उसके बाद भी आये।

क० — आपने जब 'सहज कहानी' की बात कही थी तो क्या इसके पीछे कहीं सोद्देश्यतावाली वात भी थी ?

अ० — नहीं, उसके पीछे एक दूसरी बात थी और वो थी ...

क० — क्या अकहानी के विरुद्ध ?

अ० — हाँ, यही, अकहानी के विरुद्ध। उसका मतलब मेरा यह था कि कहानी में कथारस होना चाहिए, कहानी भले न हो, क्योंकि यदि कथारस न होगा तो कोई पढ़ेगा ही नहीं। मैं ये मानकर चलता हूँ कि गीत तो अकेले में भी गुनगुनाया जा सकता है, और प्रायः गुनगुनाया भी जाता है, लेकिन कहानी में सुनानेवाले के साथ कम-से-कम एक सुननेवाला भी होता ही है। इसलिए सुननेवाले को बाँधने की कथारसात्सकता तो कहानी में होनी ही चाहिए। सहज कहानी से मेरा संकेत इसी ओर था और वो जो कुण्ठावादी कहानियाँ, एकरस और नीरस कहानियाँ, तब की कहानियाँ थीं, उनके विरुद्ध वो बात थी।

क० — वे सब तो व्यक्तिवादी कहानियाँ थीं।

अ० — हाँ, बिल्कुल। ऐसी ही कहानियों के दौर के विरोध में मैंने सहज कहानी की बात कही थी, क्योंकि जब आप कथारसवाली कहानी को लेकर चलेंगे, तब प्रकारान्तर से, कालान्तर में आप जुड़ेंगे उस कहानी से जो कि आपके टोले-पड़ोस की, घर-परिवार की

कहानी है, उसके आसंग-प्रसंग हैं, सारी बातें हैं। इस तरह से सामाजिकता का सामीप्य-बोध कहानी से जुड़ेगा।

क० — प्रेमचन्द की कहानियों की यही विशेषता उन्हें उतना लोकप्रिय बनाती है क्योंकि उनमें कथारस के साथ-साथ कथानक की रोचकता भी साथ-साथ चलती है।

अ० — बिलकुल ठीक कहते हैं आप।

क० — अच्छा अब ये बतायें, प्रेमचन्द ने भारतीय और विदेशी साहित्य का गहरा अध्ययन किया था? जितना लिखा उससे कहीं ज़्यादा पढ़ा भी? इसलिए यह पूछना चाह रहा हूँ कि आप किस-किस लेखक का प्रभाव उन पर पाते हैं?

अ० — ये बताना तो बड़ा मुश्किल है ...

क० — मेरा मतलब जहाँ से उन्होंने कुछ सीखा हो, कुछ लिया हो, बात ली हो, ज़मीन अपनी भले ही रखे हों, शैली ली हो या अन्दाज़े बयाँ लिया हो ...

अ० — अन्दाज़े बयाँ तो मैं समझता हूँ सीधे-सीधे उर्दू से आया और उस अन्दाज़े बयाँ में शायद 'तिलिस्मे होशरुबा' का भी अपना हाथ है, भले ही उन्होंने वो तिलिस्म की गली छोड़ दी और उसे ले आये सामाजिकता के रास्ते पर, लेकिन ये जो बड़ी अच्छी रची हुई, गुथी हुई कहानी है, और बात में से बात निकल रही है, घटना में से घटना निकल रही है और बेहद रोचकता से कहानी आगे बढ़ रही है, तो ये सब ढंग अपने यहाँ 'चन्द्रकान्ता' में था और उन्होंने वहाँ से ये ढंग लिया। फिर 'मिस्ट्रीज़ ऑफ़ द कोर्ट ऑफ़ लण्डन' आदि जैसी जासूसी तमाम चीज़ें भी उन्होंने उस ज़माने में पढ़ी थीं। इस तरह कहानी का रूपबन्ध तो उन्होंने वहाँ से पकड़ा पर कहानी की आत्मा को उन्होंने वहाँ से नहीं लिया; कहानी का टेक्सचर तो कुछ-कुछ वही रहा पर उसमें बात अपनी डाली। फिर उन पर दूसरा ज़बर्दस्त असर पड़ा रतननाथ सरशार का। बाहरी लेखकों में दोस्तोवेस्की, चेखव, टॉलसटॉय आदि का भी असर उन पर था।

क० — अच्छा ये उर्दू से हिन्दी में आने की बात क्यों और कहाँ से पैदा हो गयी? अपने मन से या किसी के कहने पर?

अ० — पता नहीं कहाँ से पैदा हो गयी। हुई होगी कोई बात और तब लगा होगा कि हिन्दी में चले जाना अच्छा रहेगा।

क० — हाँ, जो उनका मक़सद था, समाज में वैचारिक रद्दोबदल और व्यावहारिक सुधार लाने का, देश की आज़ादी का, उसके लिए उन्हें हिन्दी का माध्यम अधिक बड़ा लगा होगा क्योंकि उसकी रीडर-शिप बड़ी थी और यह सब सोच-समझकर वे हिन्दी में आ गये होंगे। कहते हैं कि इस मुआमले में निगम साहब ने भी कोई ख़ास पहल की थी।

अ० — नहीं, ऐसी बात तो नहीं थी। मैं तो समझता हूँ कि मुमकिन है वो भी फ़िराक़ की तरह उन लोगों में से रहे हों जो ये कहते हैं कि उन्होंने (प्रेमचन्द ने) ज़िन्दगी में एक ही ग़लती की कि वो उर्दू से हिन्दी में चले आये!

क० — कुछ अजीब बात है। लगता है ये उनका उर्दू से हिन्दी में आना बहुत से उर्दू-वालों को ज़ख्म की तरह साल रहा है। इधर शैलेश ज़ैदी का तमाशा तो आपने देखा ही होगा।

अ० — हाँ देखा था, पर हिन्दीवाले ये भी तो नहीं करते कि ज़रा उसका ढंग से जवाब दें।

क० — जवाब तो उसे दिया ही जा रहा है, पर मैं ये जानना चाहूँगा कि आपके ज़ेहन में इसके लिए जवाब में क्या बात है?

अ० — मैंने उनकी पूरी किताब पढ़ना भी गवारा नहीं किया।

क० — क्यों, ऐसा क्यों? आपत्तिजनक बात तो उसमें व्यक्तित्व को लेकर ही कही गयी है। बाक़ी जहाँ तक लेखकीय पक्ष का मूल्यांकन है, वह तो कुल मिलाकर ठीक ही है। फिर मज़े की बात तो ये है कि उसने सारी बातें 'क़लम का सिपाही' से, 'प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री' या 'प्रेमचन्द : घर में' जैसी किताबों से ही नोट किया और उसका हवाला दिया है, लेकिन पेश करने का उसका लहजा बहुत ही अपमानजनक और आपत्तिजनक है और उसे पढ़कर कोई भी आदमी यह कह सकता है कि ये सारा का सारा आक्षेप पूर्वाग्रह-ग्रसित है।

अ० — हाँ, दुनिया में कोई चीज़ ऐसी नहीं है जिसको सन्दर्भ से काटकर कुछ का कुछ अर्थवाही न बना दिया जाय।

क० — दरअसल, अमृतभाई, ये तो उस आदमी ने शती का ये अच्छा मौक़ा तजवीज़ किया भुनाने के लिए। बहरहाल उसकी उन ऊलजलूल बातों से कुछ होनेवाला नहीं। प्रेमचन्द की ऊँचाई खुद में इतनी है कि मुझे विश्वास है कोई उन पर कान नहीं देगा।

अ० — बिलकुल ठीक कहते हैं आप। उलझिए तो वही कीचड़ में पत्थर फेंकना होगा। इसलिए मेरे उलझने का तो सवाल ही नहीं पैदा होता।

क० — उलझाना तो उन्होंने शुरू में ही चाहा था आपसे ही उस किताब का विमोचन करा के, पर आपने शुरू से ही होशियारी बरत रखी है। वो क्या एक कहावत भी तो है न कि छोटों के मुँह न लगा जाय तो ही बेहतर है।

अ० — अब आप जो भी कह लीजिए पर मैं तो अपने को ही सबसे छोटा मानता हूँ।

क० — बहरहाल अब कुछ बातें ज़रा इस शताब्दी के सिलसिले में भी करने की तबियत इसलिए हो रही है कि ये जो अचानक बड़े ज़ोर-शोर से, पूरे ताम-झाम, शोर-शराबे से हम प्रेमचन्द जन्मशती मना रहे हैं, क्या ऐसा नहीं लगता कि जैसे हम सोये-सोये अचानक जाग गये हैं, और एक मेला खड़ा कर दिया ! ठीक है, यह भी ज़रूरी था पर इससे ज़्यादा ज़रूरी और भी कुछ था जो नहीं हो रहा है ...

अ० — जैसे ?

क० — जैसे वह सब कुछ जो प्रेमचन्द की स्मृति को और स्थायी स्वरूप देता ...

अ० — कैसे ?

क० — इस तरह से कि प्रेमचन्द का सारा साहित्य सस्ते मूल्य में, पॉकेटबुक्स के रूप में छापा जाता ताकि प्रेमचन्द को घर-घर में पहुँचाया जा सकता तो वो ज़्यादा बेहतर बात होती। आप इस बारे में क्या सोचते हैं ?

अ० — वो तो ठीक है।

क० — ठीक तो है पर वैसा कुछ हो नहीं रहा है। देखिए बंगाल सरकार कम मूल्य में यह साहित्य छापने जा रही है। इसी तरह

प्रेमचन्द के स्मारक भी बनने चाहिए।

अ० — पहली बात तो मैं आपका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि ये तमाम दिवस, जयन्ती, शती समारोह इत्यादि, ये सब किसी लेखक का स्मारक नहीं होता, स्मारक केवल उसका काम होता है। ये तो समाज जिस किसी को अपने लिए उपयोगी जानता है, महत्वपूर्ण मानता है, उसकी चीज़ों को फिर से याद करके, अपने ही संदर्भ में बृहत्तर प्रयोजन के लिए, महत्तर प्रयोजन के लिए सार्थक मानकर उसकी स्मृति को सँजोता है।

क० — उसी सन्दर्भ में संग्रहालय की ज़रूरत पड़ती है जहाँ की संगृहीत वस्तुएँ विगत को ताज़ा कर देती हैं।

अ० — इसका भी महत्व है, पर मूल रूप से उसका काम ही होता है। दूसरी बात जो मैं कहना चाहूँगा वह ये कि मेरे देखने में प्रेमचन्द की जन्मशती जितने बड़े पैमाने पर और जितने जन-उत्साह से मनायी गयी है, वैसी इसके पहले किसी के लिए नहीं देखी गयी। हिन्दी-अहिन्दी सभी क्षेत्रों में पूरे उत्साह से ...

क० — यहाँ तक कि विदेशों में भी ...

अ० — हाँ, वहाँ भी बहुत बड़े पैमाने पर लोग सामने आये। क़स्बों में, स्कूल-कालेज, युनिवर्सिटीज़ या कहीं सरकारी स्तर पर, जिस तरह यह जन्मशती मनायी गयी, मैं तो सोचता हूँ कि अगर कहीं से वह आदमी ये सब देख रहा हो तो वाक़ई उसे बहुत मज़ा आयेगा यह देखकर कि अरे यार, ये क्या हो गया कि कहीं गवर्नर तो कहीं उपराष्ट्रपति, कहीं ये तो कहीं वो बस चला जा रहा है! बड़ा ताम-झाम हो रहा है पर दरअसल इस ताम-झाम के अलावा ...

क० — हाँ उधर जिधर मैंने इशारा किया था कि यदि प्रेमचन्द साहित्य के पॉकेटबुक निकाले जायँ और कम-से-कम दाम में उसे सुलभ कराया जा सके तो प्रेमचन्द को घर-घर तक पहुँचाने में आसानी होगी। इस बारे में आप क्या सोचते हैं?

अ० — देखिये कमल जी, पहली बात तो ये है कि प्रेमचन्द घर-घर गया है ...

क० — मेरा मतलब है कि प्रेमचन्द घर-घर हों ...

अ० — वो तो हैं।

क० — नहीं, वो नहीं हैं। प्रेमचन्द का अधिकांश साहित्य हर घर की लाइब्रेरी में हो, ये नहीं कि दो-चार कोर्स बुक्स के रूप में हो गयीं, दो-एक लाइब्रेरी से पढ़ लीं या इधर-उधर से माँग लीं।

अ० — नहीं, ऐसी बात नहीं है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि बहुत बड़ी संख्या में घरों में प्रेमचन्द की कृतियाँ मौजूद हैं। वैसे इसका कोई अन्त तो नहीं है, फिर भी काफ़ी हैं ...

क० — देखिए अमृत भाई, वो तो इसलिए है कि बहुत लम्बे समय से वो स्मृति पर छाये हुए रचनाकार के रूप में रहे हैं। साथ ही जो सम्पन्न लोग रहे हैं उनके यहाँ अधिकांश कृतियाँ शायद मिल जायें। इससे अलग यदि सस्ते वॉलूम्स निकाले जाते तो प्रेमचन्द के साहित्य को हम अधिकांश घरों में पहुँचा सके होते। आप जिन घरों की बात कह रहे हैं, वो आज के बदले माहौल के घर नहीं हैं। इनसे अलग हटकर मैं आज के उभरते हुए उन घरों की ओर और उनके भीतर रह रहे पाठकों की ओर संकेत कर रहा हूँ जिनके पास और तरह की किताबों की भरमार तो दीखेगी पर प्रेमचन्द की कृतियाँ मुश्किल से देखने को मिलेंगी। क्या ये बात तकलीफ़देह नहीं ?

अ० — देखिए कमल जी, ये बात तो बहस को दूसरी तरफ़ ले जा रही है, क्योंकि वो चीज़ जुड़ जाती है व्यक्ति की रुचियों से

क० — और इन रुचियों का हनन करने में चीप लिट्रेचर ने काफ़ी मदद की है, जिसे रोकने का काम काफ़ी हद तक प्रेमचन्द का साहित्य कर सकता था बशर्ते कि वह कम मूल्य में सबके लिए सुलभ कराया जाता ...

अ० — आपका खयाल बहुत अच्छा है पर आज की प्रकाशन-स्थितियों में प्रेमचंद साहित्य को सच्चे अर्थों में सर्वजनसुलभ ढंग से प्रस्तुत करना उतना सरल नहीं है जितना लोग अकसर समझ लेते हैं। उसके साथ और भी कितनी ही बातें, अपेक्षाएँ, जुड़ी हुई हैं

जिनका समाधान संप्रति मुझे कठिन दिखायी पड़ता है, जब तक कि सामाजिक स्थितियों में और लोगों के सोच में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आता। फ़िलहाल मैं कुछ उन्हीं व्यावहारिक कठिनाइयों का समाधान खोजने में लगा हूँ। आप चाहेंगे तो उनके बारे में फिर कभी अलग से पूरी बात करना ठीक रहेगा। अभी तो इतना ही कह सकता हूँ कि मेरी इच्छा भी वही है जो आपकी है ; उसे पूरा कर पाता हूँ या नहीं यह तो समय ही बतायेगा।

क० — चलिए खुशी हुई ये जानकर कि आपने इस ओर काम शुरू कर दिया है। अब आइए, इन बातों से अलग कुछ बातें और कर लूँ।

अ० — मसलन ?

क० — मसलन ये कि आपने कहीं कहा था कि आप प्रेमचन्द को उपन्यासकार से बड़ा कहानीकार मानते हैं।

अ० — वो तो बहुतों ने कहा है।

क० — औरों की बात मैं नहीं कहता, मैं आपकी बात कहता हूँ, आप क्यों कहते हैं ?

अ० — इसलिए कि मेरे देखने में उन्होंने कहानियाँ ज़्यादा पायेदार लिखीं, इस माने में कि, जैसा कि मैं समझता हूँ, जो ऑल टाइम ग्रेट समझे जाते हैं कहानी की दुनिया में, मसलन चेखव, मसलन मोपासाँ, या गोर्की या तुर्गनेव जैसे लोग, उनके पास श्रेष्ठतम कहानियाँ जितनी हैं, उतनी ही श्रेष्ठतम कहानियाँ प्रेमचन्द के पास भी मिल जाती हैं। इसलिए मैं समझता हूँ कि कहानीकार के रूप में वो वर्ल्ड मास्टर है।

क० — और उपन्यासकार के रूप में भी। हाँ, अगर 'गोदान' को माइनस कर दिया जाय तो उन्हें वर्ल्ड क्लास में रखना मुश्किल होगा।

अ० — नहीं, मैं ऐसा नहीं मानता ... पहली बात तो मैं ये कह दूँ कि मैं 'गोदान' को एकदम निर्दोष उपन्यास नहीं मानता। ये हुई पहली बात। दूसरी बात ये कि 'गोदान' पर ही प्रेमचन्द की कुल कायनात है, ये मैं नहीं मानता। मैं मानता हूँ कि 'गोदान' के पहले

'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम' जैसे उपन्यास हैं जो उन्नीस-बीस 'गोदान' के ही टक्कर के हैं, विशेष रूप से 'रंगभूमि'। मैं नहीं समझता कि सूरदास किसी मायने में होरी से घटकर है। मैं ये मानता हूँ कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में ऐसे टुकड़े, बड़े-बड़े टुकड़े भी मिल जायेंगे जो कि आप टॉलसटॉय के साथ या डिकेन्स के साथ या ह्यूगो के साथ रख सकते हैं।

क० — आपका मतलब चिन्तन के टुकड़ों से है ?

अ० — नहीं, ज़िन्दगी की अक्कासी के टुकड़े।

क० — चिन्तन के माने आप दर्शन के सन्दर्भ में न लें। मैं दर्शन की बात नहीं कह रहा हूँ; मेरा मतलब ज़िन्दगी की तसवीर खींचने और उसे सही ढंग से परिभाषित और व्याख्यायित करनेवाले टुकड़ों से है।

अ० — हाँ, लेकिन पूरे के पूरे उपन्यास शायद उतने पायेदार नहीं हैं।

क० — ये नुक्ता तो आप हरेक उपन्यास पर लगा सकते हैं ...

अ० — नहीं, ऐसी बात नहीं ...

क० — यहाँ मैं आपसे सहमत नहीं हूँ। मैं तो समझता हूँ कि प्रेमचन्द ने जिस दृष्टि और जिस ढंग से समस्याओं का हल पेश करते हुए, कथारस के साथ, जो रचनाएँ दी हैं, वो बेमिसाल हैं ...

अ० — देखिए, आप मेरी बात को कन्फ्यूज़ मत करिए। वस्तुतः मैं ये कह रहा हूँ कि मैं किसी भी जगह पर उनकी जो देन उर्दू और हिन्दी उपन्यास को है, उसको कम करके नहीं देख रहा हूँ। मैं साफ़-साफ़ कहना चाहता हूँ कि उन्होंने दो भाषाओं के उपन्यास को तिलिस्मी और ऐय्यारी से उठाकर वो माडर्न विधा बनाया जो कि वह यूरोप में थी, जहाँ से यह विधा आपके यहाँ आयी है। पर इसके बाद भी मैं स्पष्टतः इस मत का हूँ कि वो वर्ल्ड क्लास का नहीं है।

क० — बट दे आर ग्रेट नॉवेल्स ...

अ० — हाँ, ग्रेट नॉवेल्स तो हैं पर वर्ल्ड क्लास नहीं हैं, ऑल टाइम ग्रेट नहीं हैं ...

क० — आप ऐसा सोचते हैं तो चलिए माने लेता हूँ पर ये भी कहा जाता है कि शरतचन्द्र ने प्रेमचन्द की किसी कृति को पढ़कर उन्हें 'उपन्यास सम्राट्' की संज्ञा दी थी। उसके बारे में आपका क्या कहना है ?

अ० — प्रेमचन्द प्रोग्रेसिव हैं, रेडिकल हैं इसलिए हो सकता है कि वे उनके प्रति विशेष अनुरक्त रहे हों, पर यह बात कहाँ तक प्रामाणिक है, यह मैं नहीं जानता। वैसे मैंने भी यह सुना है और पढ़ा है और शायद यह उस ज़माने की बात है जब कलकत्ता के बैजनाथ केडिया के यहाँ से दो उपन्यास प्रकाशित हुए थे — सेवासदन और प्रेमाश्रम। लगता है उन्हीं को पढ़ के शरत बाबू ने यह बात कही होगी।

क० — पर सिर्फ़ इन्हीं दो उपन्यासों को ही पढ़कर शरत बाबू उन पर इस क़दर फ़िदा हो जायँ और कह दें कि वो 'उपन्यास सम्राट्' थे तो बात कुछ जमती नहीं ...

अ० — अब जो हो, मुझे इस बात की ज़्यादा जानकारी नहीं।

क० — अच्छा, अब बस एक सवाल और। आगे आनेवाली पीढ़ी के लिए प्रेमचन्द की क्या विरासत मानी जाय ? इन व्हॉट फ़ार्म शुड दे एक्सेप्ट प्रेमचन्द ?

अ० — देखिए, प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विरासत है लेखक की सच्चाई, ईमानदारी और जनता के साथ, उसके दुख-दर्द के साथ उसका लगाव। यही प्रेमचन्द की असल विरासत है, जो वह सब लिखनेवालों के लिए छोड़ गया है।

क० — बहुत पते की बात कही आपने। यही असल प्रेमचंद है।

अ० — इतना अगर हो तो शायद कोई घातक भटकाव नहीं होगा ...

क० — घातक क्यों, मैं तो समझता हूँ, फिर भटकाव ही नहीं होगा, क्योंकि यदि यह ज़मीन लेखक तलाश ले, फिर गुंजाइश ही कहाँ है भटकाव की ?

अ० — मतलब ये कि यदि थोड़ा-बहुत हो भी तो वह ठीक हो जायेगा, जैसे ख़ुद प्रेमचंद के साथ हुआ हो ...

क० — दरअसल ज़मीन से जुड़े रहने पर भटकाव होगा ही नहीं। यही तो बड़े लेखक की सर्वोपरि पहचान है — अपनी ज़मीन से जुड़े रहना। इसके अलावा और कुछ ?

अ० — एक चीज़ और है और वह है मिज़ाज की सादगी और बहुत सच्चे ढंग की विनयशीलता जो स्वभाव का गुण है ...

क० — प्रेमचन्द की विरासत के रूप में आपकी ये बातें तो यह सोचने पर मजबूर करती हैं कि आज कितने हैं जो इस ढंग से, इतनी ईमानदारी और सच्चाई के साथ ज़मीन से जुड़े रहकर अपने रचना-धर्म का निर्वाह कर रहे हैं ...

अ० — अब यह कैसे कहा जाय कि उस विरासत को, परम्परा को, कौन वहन कर रहा है, कौन नहीं कर रहा है, कितना कर रहा है; लेकिन मोटी बात ये है कि उस आदमी की ज़िन्दगी से ये बातें हमारे सामने आती हैं और अगर हमको ठीक लगती हैं तो खुला हुआ रास्ता है कि उनको कुबूल करें, अपने जीवन और लेखन में, अन्यथा छोड़ें, जाने दें। गया आदमी। कितनी चीज़ें ख़त्म हो जाती हैं। रही ये जो ज़बान की बात कही जाती है, तो अगर सादगी हो तो वह पूरे व्यक्तित्व में होगी ही। जो बात कही जा रही है, जो लेखकीय दृष्टि है. उसमें होगी, भाषा में होगी, सबमें वही सादगी होगी।

क० — एक बड़ी चीज़ और जो आपने कही वह है लेखक की विनयशीलता। यह तो जैसे सर्वोपरि गुण लेखक में होना चाहिए।

अ० — लेकिन वो बड़े आदमी का गुण है, छोटे आदमी में विनयशीलता नहीं आती और मेरा ख़याल है कि बड़े होने की वह एक ख़ास पहचान है।

प्रेमचंद आज

मुझे बहुत खुशी है कि बहुत कुछ आनाकानी करने के बाद और अपने को इस आयोजन से दूर रखने की हर कोशिश करने के बाद मैं हार गया और मुझे यहाँ आना पड़ा। आप सब लोगों का इतनी बड़ी संख्या में यहाँ पर समवेत होना, इतने ध्यान से बातों को सुनना, साहित्य में इतनी गहरी अभिरुचि का रखना बहुत ताक़त देनेवाली चीज़ है और बहुत खुशी देनेवाली चीज़ है। प्रेमचन्द के प्रति आपके मन में जो ममत्व का, प्रेम का भाव है, वह निश्चय ही इसके पीछे वहुत गहराई में काम कर रहा है। इस वक्त, इस साल कितनी जगहों पर प्रेमचन्द जन्मशती के आयोजन हो चुके हैं, बहुत जगहों पर हो रहे हैं और वर्ष भर तक यह सिलसिला चलता रहेगा। हिन्दुस्तान में ही नहीं दुनिया के कई देशों में इस वर्ष प्रेमचन्द शती के आयोजनों का क्रम है। कुछ संस्थाएँ ऐसी हैं जो सारी दुनिया में काम कर रही हैं। शायद युनेस्को की तरफ से भी इस जन्मशती को मनाने के लिए कहा गया है। विश्व शान्ति परिषद् ने बल्गारिया की राजधानी सोफ़िया में आयोजित अपने दो दिन के अखिल विश्व सम्मेलन की एक शाम लेनिन को और दूसरी शाम प्रेमचंद को समर्पित की। यह एक लेखक को दिया गया बहुत बड़ा सम्मान है। मुझे इस सिलसिले में प्रेमचन्द की काफ़ी शुरू के दिनों की एक कहानी याद आ रही है। आपने भी ज़रूर पढ़ी होगी, उसका नाम 'बोध' है। उस 'बोध' कहानी में स्कूल का एक मुदर्रिस है, और एक पुलिस का छोटा-मोटा अफ़सर — कानिस्टिबिल से ऊपर, दरोग़ा क़िस्म का। उस दरोग़ा की जिस क़दर ले-लपक होती है, जितने तमाम लोग उसको उठते-बैठते सलाम झुकाते हैं, उससे उस बेचारे स्कूल मास्टर को बार-बार ख़याल आता है कि मैंने क्यों स्कूल में आकर अपनी मिट्टी खराब की, मुझे कोई नहीं पूछता, देखो इस पुलिसवाले

के क्या ठाठ हैं ! वह स्कूल मास्टर शायद खुद मुंशीजी भी हो सकते हैं या उस मास्टर में मुंशीजी का कुछ अंश तो यक़ीनन् होगा ही क्योंकि उन्होंने अपनी ज़िंदगी स्कूल मास्टरी से शुरू की थी, जब उनकी उम्र सिर्फ़ १८ साल की थी।

एक बार वे दोनों दोस्त घूमने निकलते हैं तो उस स्कूल मास्टर को बोध होता है कि पुलिस का आदमी जहाँ अपने शहर से हटा कि गुमनाम हो गया, उसकी न वो पहचान रही, न वो आवभगत; लेकिन स्कूलमास्टर को जब उसके पुराने पढ़ाये हुए लोग विभिन्न जगहों पर मिल जाते हैं, जिन्हें उसने वाक़ई मुहब्बत से पढ़ाया था तो वे उससे बहुत ले-लपक के साथ मिलते हैं, उसके बहुत आगे-पीछे रहते हैं, और तब उसे बोध हो जाता है कि नहीं, स्कूल की मास्टरी कोई बेकार की चीज़ नहीं है।

आज दुनिया के पैमाने पर उनकी जन्मशती मनायी जा रही है। ज़ाहिर है कि इतने बड़े पैमाने पर, जिस तरह हिन्दुस्तान में मनायी जा रही है जगह-जगह पर, अलग-अलग या मिलकर, ऐसी हर जगह तो नहीं मनायी जायेगी, कुछ एक-दो केन्द्रीय आयोजन होंगे, तो भी उनकी जन्मशती मनायी जा रही है। और जब ये आदमी मरा था, ८ अक्तूबर १९३६ को, तब उसकी अरथी के साथ बमुश्किल तमाम दस-बारह आदमी थे; वो भी ज़्यादातर उन्हीं के गाँव से आये हुए लोग, दूर के हमारे कुछ नातेदार, कुछ गाँव के सम्बन्धी, और कोई नहीं था। लेखक को कौन पूछता है ? किसी ने रास्ते में पूछा भी कि किसकी लाश जा रही है तो किसी ने कहा — 'कोई मास्टर था'। लेकिन आज दुनिया की कितनी ज़बानों में उनके तर्जुमे होते हैं कितने पढ़नेवाले हैं, कितने उनके चाहनेवाले हैं कि देखकर हैरानी होती है।

इसी सिलसिले में ख़ुद मुझे कभी-कभी अजीब क़िस्म के तजुर्बे हुए हैं और वो इस सौभाग्य या दुर्भाग्य से कि मेरा प्रेमचन्द से कुछ नाता है। एक बार मैं हैदराबाद गया। वहाँ पर मेरे एक मित्र हैं, जो मुझे मेहदी नवाज़ जंग के यहाँ ले गये। नवाब घराने के आदमी, पक्के राष्ट्रीय विचारों के जो बाद में भारत के राजदूत बनाकर पश्चिम

एशिया के कुछ देशों में भेजे गये। अभी उनसे मेरा परिचय हो ही रहा था, मैं अभी मुश्किल से बैठा ही था कि नवाब साहब की बेगम जिनकी उम्र काफ़ी हो चुकी थी, बाल बिल्कुल सफ़ेद हो चुके थे, अन्दर से आयीं, मेरी बलैयाँ लीं, माथा चूमा, और क्या कहूँ, इतनी मुहब्बत से मिलीं कि मैं बयान नहीं कर सकता। कहने लगीं — बेटा, मैं १३ साल की उम्र से मुंशीजी को पढ़ती चली आ रही हूँ, मैंने उन्हें तो देखा नहीं पर ये भी नहीं सोचा था कि कभी उनके बेटे से मुलाक़ात होगी। तुम आ गये तो मेरी आँखें तर हो गयीं! इस क़िस्म के बहुत से तजुर्बे होते हैं, जो कभी-कभी तो दिल को छूते हैं और कभी-कभी मेरे काँधे पर एक बड़ा बोझ डाल देते हैं क्योंकि मैं समझता हूँ कि बड़े बाप का बेटा होना एक दुधारी तलवार है। यह किसी को शायद अच्छा भी लग सकता है, लेकिन मुझे नहीं लगता। बुरा इस माने में लगता है कि हर आदमी, बेचारे उस वंशधर को उसी बड़े आदमी से तोलना चाहता है। भला यह भी कोई न्याय है? और आज उसी बोझ को ढोते ढोते मैं मुंशीजी की उम्र को पार कर आया हूँ, लेकिन ज़ाहिर है यह कोई अच्छी स्थिति नहीं है। वात ये है कि उनके पढ़नेवाले बहुत ज़्यादा हैं, और सभी वर्गों के, श्रेणियों के, सम्प्रदायों के। ऐसे सब वर्गीकरण को फलाँगते हुए उनका पाठक वर्ग है। एक तरफ़ वे तमाम लोग हैं जिनको सही माने में साहित्य का पाठक कहते हैं, जो साहित्य की गतिविधियों से परिचित हैं तो दूसरी तरफ़ ऐसे असंख्य लोग हैं जिन्हें सामान्यतः साहित्य का पाठक नहीं कहा जा सकता, जिनके लिए एक गोसाईं तुलसीदास हैं, और दूसरे प्रेमचन्द हैं। यह एक ऐसा विशाल वर्ग है पढ़नेवालों का, जिनको नज़दीक जाकर प्रेमचन्द ने कहीं गहरे छुआ है और वो इतने गहरे जाकर छू सके, यही हमारे समझने की चीज़ है। इसी को जितनी अच्छी तरह से हम समझेंगे उतना ही हमें प्रेमचन्द की महत्ता का, अज़मत का पता चलेगा। तभी हम समझ सकेंगे कि आज उनकी हमारे लिए क्या सार्थकता है, प्रासंगिकता है, हम उनसे क्या चीज़ ले सकते हैं और क्या सीख सकते हैं। वह चीज़ एक छोटे-से वाक्य में कही जाय तो ये है कि वे सचमुच देश की जनता के साथ, साधारण जनता के साथ जुड़ सके थे, उसके साथ अपना योगायोग स्थापित

कर सके थे, जिसकी बात बहुत की जाती है लेकिन कितने लोग इसको मन की सहजता के साथ स्वीकार करते हैं, कितने लोग कर पाते हैं, यह बिल्कुल अलग बात है। प्रेमचन्द, जैसा आप जानते हैं, एक निम्न-मध्यमवित्तीय परिवार में पैदा हुए थे। एक डाकमुंशी के बेटे थे। गाँव में पैदा हुए थे, और शुरू के तमाम साल उनके गाँव में ही बीते थे। उनके तमाम हेली-मेली, संग खेलनेवाले, दौड़नेवाले, आम पर ढेले चलानेवाले, चोरी से ऊख तोड़कर खानेवाले, ये तमाम वहीं के थे। उनमें से बहुतों को मैंने भी देखा, बाद में जब मैं लिखने को आया मुंशीजी की जीवनी, तब उनमें से बहुतेरे सिधार चुके थे; लेकिन जो मिले उनसे प्रेमचन्द के बारे में बहुत सी बातें मालूम हुईं। मन अगर निश्छल हो तो बहुत सी दूरियाँ दूर हो जाती हैं। बहुत सी दूरियाँ आदमी अपने उस आटोप के कारण डाल लिया करता है जो कि समाज के ऊँच-नीच और उसी से जुड़े हुए संस्कारों के कारण उसके ऊपर छायी रहती हैं; लेकिन मुंशीजी के बारे में ऐसी कोई बात सुनने को नहीं मिली। सबसे बड़ा गुण जो मुझे उस आदमी में लगा, वह उसकी सादगी थी। सचमुच की सादगी। सरलता उसके चरित्र का, स्वभाव का अंग थी और वह चीज़ अगर हो तो, दूसरे आदमी के साथ, भले शिक्षा का स्तर कुछ भिन्न हो, भले हमारा स्तर-भेद से जर्जरित समाज, उसकी स्थितियों के कारण उत्पन्न स्तर-भेद, वह भी हो लेकिन उसके बाद भी अगर आदमी सच्चे मन से जुड़ना चाहता है, पूरी सादगी से जुड़ना चाहता है, अपना आपा खोकर जुड़ना चाहता है तो जुड़ सकता है, और जितना ही जुड़ता है उतना ही ज़्यादा दूसरे आदमी के सुख-दुख को समझ सकता है, और वक़्त आने पर उसकी कहानी कह सकता है। मैं नहीं समझता कि भारतीय कथाकारों में किसी भी भाषा में, ऐसा कोई कथाकार है जिसने इस देश के किसान के मर्म को उस तरह समझा है, जैसे प्रेमचन्द ने समझा है या उस तरह उसकी समस्याओं को, दुख-दर्द को वाणी दी है, जिस तरह प्रेमचन्द ने दी है और जिस माने में कि ये देश अस्सी फ़ीसदी किसानों का ही देश है, यह बात और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। हमारे तमाम सोचने-विचारने पर भी,

हमारे उस ग्रामीण परिवेश का बहुत बड़ा असर है। हमारे यहाँ बहुत से मूल्य-बोध जो आज के हैं, वे भी उसी ग्रामीण समाज से निकले हुए हैं। इस नाते जो आदमी भारत के किसान को वाणी देता है, वह समूचे देश को वाणी देता है, यानी किसानों के अलावा शेष पन्द्रह-बीस प्रतिशत को भी। लेकिन यह ज़रूर है कि जितना अच्छा मुंशीजी ने भारत के किसान को समझा है, उतना अच्छा उन्होंने शहर के आदमी को नहीं समझा, बल्कि शहर के आदमी का चित्रण करते हुए, वहाँ ऐसे चित्र मिल जाते हैं जिनसे पता चलता है कि ये जो मध्यम वर्ग है या जो शहर का पढ़ा-लिखा आदमी है, उसे मुंशीजी ने अच्छी तरह नहीं समझा। कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही लगता है। लेकिन किसान को समझा है और खूब गहरे पैठकर समझा है, बावजूद इसके कि जहाँ तक मैं जानता हूँ उन्होंने शायद कभी हल की मूठ नहीं पकड़ी, लेकिन शायद किसान को समझने के लिए हल की मूठ पकड़ना उतना जरूरी भी नहीं है। उसके दिल की पकड़ ज्यादा ज़रूरी है, और दिल की पकड़ तभी हो सकती है जब आप अपना आपा खोकर उसके साथ मिल-जुल सकें, उसके साथ चौपाल में जाकर बैठ सकें, उसके साथ खेत में जाकर बैठ सकें, चाहे आप हल न चलायें उसके साथ। यह मुंशीजी खूब करते थे। मैं समझता हूँ कि वह एक तरह की घर की चाह थी, नास्टैलजिया था। जब कभी वे बाहर रहते थे और नौकरी के सन्दर्भ में उनको बाहर रहना पड़ता था, तब वे शहर से गाँव और ख़ासतौर पर अपने गाँव की तरफ़ भागने के लिए बहुत बेचैन रहते थे और उन लोगों के साथ घुल-मिल जाने में, उनका हो जाने में उन्हें बहुत ही कम वक़्त लगता था। मैं समझता हूँ यही उस आदमी की सबसे बड़ी ताक़त थी। हम जो लिखनेवाले लोग हैं अगर प्रेमचन्द से कोई चीज़ सीख सकते हैं तो वह यही है कि अपने से बाहर आ सको, और तुम्हारे सामने का जो आदमी है उसके साथ अपने को मिला सको, एकाकार कर सको, जुड़ सको। अपने आपसे बाहर निकलने में थोड़ी मुश्किल भी होती है, परेशानी भी होती है। फिर ज़माना जिस तरह का आ गया है, ये ज़्यादा आसान पड़ता है कि किसी रेस्तराँ या कॉफ़ीहाउस

में बैठे रहें। यह मुश्किल भी है कि बाहर जाकर वे जो ग़रीब, अनपढ़, गंदे लोग हैं उनके साथ आदमी मिले; लेकिन मैं समझता हूँ कि अगर आदमी एक दफ़ा मिले तो वह ज़रूर पायेगा कि बातचीत का जो रस और रंग, और उसमें जो वैविध्य और मज़ा उन लोगों के साथ मिल बैठने में आता है, वह अपने ही दो-चार हेली-मेली के साथ हर रोज़ हर शाम मिलने में नहीं आता। उसमें से तो वही ऊब और बोरडम निकलता है जिसे फिर कहानी में भी बाँधा जाता है लेकिन अगर हर आदमी के पास अपनी नयी तरह की ज़िन्दगी है, तो वह एक तरह का ख़ज़ाना है जो भले ज़रा मुश्किल से ही खुलता हो लेकिन अगर खुल सके तो यह मालूम होगा कि वह सचमुच का ख़ज़ाना है जिसको आप अपनी कहानी की सामग्री, अपनी कथावस्तु बना सकते हैं, उसका कच्चा माल बना सकते हैं। वह चीज़ वहाँ से मिल सकती है जिसे आप अपने रचनाकार के मानस में डालेंगे तो आपको ऐसा कुछ मिल सकता है, जिसमें बहुत ताज़गी होगी, बहुत टटकापन होगा, वर्ना तो जैसी हमारे शहरों की बँधी-टकी ज़िन्दगी है उसमें नया कुछ कहने को, या देने को बहुत नहीं रहता। इसीलिए यह देखा गया है कि बहुत बार लेखक निकलकर दूर-दूर भागे हैं, चित्रकार भी दूर-दूर भागे हैं। गोगाँ जैसा चित्रकार मिलता है जो सीधे पेरिस से भागा तो प्रशान्त महासागर के एक द्वीप ताहीती में ही जाकर रुका या वैन गॉग अपने देश-परिवेश से निकला तो फ्रांस भर में घूमता ही रहा। यह नये कच्चे माल की जो तलाश होती है, उसमें हमें बहुत मदद मिल सकती है, अगर वह चीज़ हम मुंशीजी से सीख सकें। अगले आदमी की जो कहानी है हम उसको सुनने का धैर्य पा सकें और उसमें आनन्द भी ले सकें और उस आदमी के साथ उस स्तर पर जुड़ सकें जहाँ पर वह निःसंकोच भाव से अपना दिल खोल सके -- किसी को भी अपना दिल खोलने में काफ़ी कुछ अड़चन, काफ़ी कुछ झिझक होती है लेकिन वो झिझक अगर तोड़ सकें आप अपने संपर्क, संसर्ग से, अपनी आत्मीयता से — वह बहुत बड़ी चीज़ होगी हमारे लिए। मुंशीजी के यहाँ भी देखिए, ये जो तमाम कहानियाँ हैं उनकी, 'राजा हरदौल', 'रानी सारंधा'

वग़ैरह, ये सब उस ज़माने की कहानियाँ हैं, जब वह महोबा और हमीरपुर में थे। मुंशीजी के सन्दर्भ में बहुत बार इसके लिए दुःख मनाया जाता है, कि वह आदमी स्कूल मास्टरी या स्कूल इंस्पेक्टरी के लिए तमाम जगहों में कहाँ-कहाँ मारा-मारा फिरता रहा लेकिन मैं सोचता हूँ कि वो आदमी कितना ख़ुशनसीब था जो कहीं गया तो, एक जगह झक तो नहीं मारता रहा कि रोज़-रोज़ वही शक्लें देखता और समझ ही न पाता कि कहाँ से कैसे नयी कहानी उठाऊँ, उसके सामने तो हर रोज़ एक नयी कहानी थी, तमाम नयी कहानियाँ थीं। कहने का मतलब ये कि उन्होंने घाट-घाट का पानी पिया था और यह घाट-घाट का पानी आपको उनकी कहानी के भीतर मिलेगा अगर आप उनको उनके काल के संदर्भ में या परिवेश के संदर्भ में रखकर देखें। इतना ही नहीं, आप यह भी देखेंगे कि दोनों में एक काफ़ी सीधा सा योगसूत्र है। कहीं-कहीं यह योगसूत्र नहीं भी हो सकता है। ये ज़रूरी नहीं कि हो ही क्योंकि यह तो रचनाकार के मानस का अपना जो एक कोष होता है उसकी बात है। बाहर से आपको जो अनुभव मिलते हैं, कथाएँ मिलती हैं, बातें मिलती हैं, रसगंध मिलता है, वह सब लाकर आप उस कोष में डालते चले जाते हैं, फिर उनमें से कौन सी चीज़ कब रूपायित होगी, कब कौन सा केटेलिटिक एजेन्ट ऐसा आयेगा जिससे कोई एक अनुभव यकवयक ज़िंदा हो उठेगा और कहानी का रूप ले लेगा, कोई नहीं जानता, रचनाकार भी नहीं जानता। यही वे सृजन के मिस्टीरियस तत्व हैं। वह खुद नहीं जानता। डालता चला जाता है। कभी कोई रचना तुरत-फुरत बन सकती है जैसे कि मशीन में आपने डाली कोई चीज़ और वो फ़ौरन निकल आयी पर मेरे ख़याल से ऐसा कम ही होता है। लेकिन यहाँ पर मैं शायद अपने आपको आरोपित कर रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि फिर वह सब स्मृति बनकर ही आता है। एक अन्तराल उस तरह का शायद ज़रूरी होता होगा। लेकिन जो कुछ आप बाहर से लाकर डालते हैं अपने उस कोष के अन्दर, वह पकता है, कोई चीज़ कम वक़्त ले सकती है कोई ज़्यादा, अपने वक़्त से ही पककर तैयार होगी, और फिर कब रूप ग्रहण

करेगी, ये भी नहीं कहा जा सकता। कभी अचानक ही होगा कि एका-एक कोई बल्ब जल उठेगा, कोई स्विच दब जायेगा। यह सब आदमी की खोपड़ी के इस कम्प्यूटर के भीतर होता है। आदमी की खोपड़ी से ज़्यादा बड़ा कम्प्यूटर दुनिया में नहीं है। इतना ही नहीं, इस कम्प्यूटर की सबसे बड़ी बात यह है कि यह सेल्फ़-प्रोग्राम्ड है, यह जो कम्प्यूटर है अपने ढंग का। जो कुछ आप देख रहे हैं, सुन रहे हैं, सोच रहे हैं वह सब अपनी जगह पर बैठा हुआ है। वह कहाँ क्यों कैसे बैठा हुआ है और कब किस विद्युत क्षण में कौन सी चीज़ घटित हो जायेगी, कौन सी चीज़ जाग उठेगी, रूप ले लेगी, कोई नहीं जानता। यही सृजन का मिस्टीक है, यही सृजन का सुख है। मुंशीजी से जो सबसे बड़ी चीज़ हमारे देखने, समझने और सीखने की है वह यही है कि अपने देश-काल से गहराई के साथ जुड़ो। किसी ने उनसे कभी पूछा कि ये जो निम्न वर्ग का आदमी है, छोटा आदमी है, साधारण आदमी उसको आप कितना महत्वपूर्ण समझते हैं अपने रचना-कर्म के लिए, और कितना महत्वपूर्ण समझते हैं देश के लिए, तो उन्होंने कहा, वही तो भाग्य-विधाता है।

प्रेमचंद के संदर्भ में उनके दोस्त मुंशी दयानारायण निगम का ख़याल आना स्वाभाविक है, जो कानपुर से 'ज़माना' अख़बार निकाला करते थे, जो एक अच्छा गम्भीर पत्र माना जाता था अपने वक्त का और जिस पत्र का निकलना और मुंशी प्रेमचंद की और मुंशी दयानारायण की दोस्ती का समय लगभग एक है। मुंशी दयानारायण और मुंशी प्रेमचंद दो बिल्कुल अलग स्वभाव के लोग थे — एक बहुत बँधे-टके, क़ायदे के आदमी और एक बिल्कुल अलल-टप्प। निगम साहब ने तो अपने बच्चों को एक अलग ढंग से तालीम दी, कोई आई. सी. एस. में आया कोई आई. पी. एस. में। ये जो मुंशी प्रेमचंद थे इन्होंने बहुत दूसरी तरह की तालीम दी। और भी सोचने-विचारने में बड़ा अंतर था दोनों में, पर वह सब जो भी रहा हो, दोनों की दोस्ती सारी उम्र चली और ख़ूब चली। अभी कोई सज्जन मुझसे कहने लगे कि भई, आपसे तो लोग बहुत उम्मीद करेंगे कि आप खूब संस्मरण सुनायेंगे। अब मैं उन्हें क्या बताता कि मुझे तो

संस्मरण याद ही नहीं रहते फिर मैं सुनाऊँगा कैसे और दूसरी बात यह है कि जब मैं १५ साल का था तब उनका देहान्त हो गया। उसके दो वर्ष पहले से हम लोग अलग हो गये थे, क्योंकि मुंशी प्रेमचंद जब बम्बई गये, अपनी क़िस्मत आज़माने या अपना क़र्ज़ा चुकाने के ख़याल से, तब मैंने आठवाँ दर्जा पास किया था और चूँकि उस वक़्त भी उनको पूरे दो साल भी वहाँ ठहरने का भरोसा नहीं था कि मैं वहाँ के हाईस्कूल बोर्ड की परीक्षा दे सकूँगा, यही तय पाया कि मैं यहीं पढ़ता रहूँ, और यहीं के बोर्ड की परीक्षा दूँ, और मेरी पढ़ाई में कोई व्यवधान न आये।

पूत के पाँव पालने में, आज जो शक्ल बंबइया फ़िल्मों की है, इसकी दाग़बेल तब पड़ चुकी थी। एक तो मुंशीजी को तब इसका पता नहीं था और दूसरे पता अगर होता भी तब भी शायद उनको जाना पड़ता क्योंकि काग़ज़वालों का बहुत रुपया देना था। तो उन्होंने सोचा चलो थोड़ा कुछ कमाकर ले आओ। जैसे और बहुत से लोग जाते हैं अहमदाबाद-बंबई की मिलों में वैसे ही वो भी गये थे पर साल के भीतर ही भाग खड़े हुए। साल भर का कांट्रैक्ट करके गये थे, अजंता सिनेटोन में मोहन भवनानी ले गये थे, लेकिन ये दस महीने के भीतर भाग खड़े हुए। कहने लगे — भाई मुझे बख़्शो, मैं जाता हूँ, दो महीने की मुझे तनख़ा भी नहीं चाहिए, मुझसे यहाँ नहीं रहा जाता, अपने गाँव जाकर बैठूँगा, वहीं काम करूँगा, 'गोदान' पूरा करूँगा। उस ज़माने की उनकी तमाम चिट्ठियाँ भी छपी हैं। जैनेन्द्रकुमार को, जौहरी साहब वग़ैरह को उन्होंने चिट्ठी लिखी थी कि यहाँ तो डायरेक्टर की अमलदारी है, जैसा कहे वैसा करना पड़ता है, वो जिस करवट उठाये, उस करवट उठिये, जिस करवट बिठाये उस करवट बैठिये, यह मेरे बस का रोग नहीं। यहाँ तो बस चूमा-चाटी है और कुछ नहीं। बस बेचारे भाग खड़े हुए।

फिर ज़रा पीछे लौटूँ।

मैं आपको बता रहा था निगम साहब बहुत क़ायदे के आदमी थे, और बहुत वज़ादार। अच्छे आदमी थे और मुझे चाहते तो थे ही। जब मैं इलाहाबाद से अपना बी० ए० कर रहा था उन दिनों वो हिन्दुस्तानी

अकादमी के सदस्य थे और अकसर इलाहाबाद आते रहते थे। तो वो जब भी आते मुझे ख़बर कर देते थे। बहुत बार तो खुद मेरे पास होस्टल चले आते थे और हमेशा मुझसे कहते थे, 'बेटा, देखो, तुमको आई० सी० एस० में बैठना चाहिए, तुम आ जाओगे। पर ये बात मेरे खोपड़े में नहीं घुसी। लेकिन मुंशी जी ने, यह बात तो छोड़ ही दीजिए, कभी पढ़ने के लिए भी मुझसे नहीं कहा, कभी कहा ही नहीं, मैं गंगाजली उठा सकता हूँ, उन्होंने मुझसे कभी नहीं कहा कि तुम पढ़ने बैठो। इसकी उल्टी तो दो-एक यादें मुझे हैं। वो क़िस्सा यों है कि हमारे एक मौलवी साहब थे जो हमें गणित पढ़ाया करते थे और ये जो गणित है ना, ये बड़ी टेढ़ी खीर है। मुंशी जी से मुझे और कुछ भले ही न मिला हो पर गणित की कमज़ोरी ज़रूर मिली है। गणित के नाम से उन्हें भी बुख़ार चढ़ आता था, मुझे भी बुख़ार चढ़ आता है।

और इधर ये मौलवी साहब थे कि उठाकर पूरी-पूरी मश्क़ दे देते थे, २८-२८, ३०-३० सवाल ! बताइए, कौन भला आदमी २८-३० सवाल कर सकता है ! लेकिन एक बात बहुत अच्छी थी उनमें और वो यह कि वो ख़ुद ख़ासे कामचोर आदमी थे। यों उनको शायद बहुत गलत भी नहीं कहा जा सकता। ज़ाहिर है कि जो आदमी २८-३० सवाल देगा और मान लीजिए कि क्लास में ३०-३५ लड़के हैं तो वह कैसे देखेगा २८-३० सवाल ? और अगर इतने लड़कों के इतने-इतने सवाल देखेगा तो उस ग़रीब पर ख़ुद क्या बीतेगी ? लिहाज़ा वो ये करते थे कि सवाल बाँयीं आँख से देखा और राइट रांग लगाते चले गये ! उधर लड़के भी कुछ कम चतुर नहीं होते। उन्होंने ताड़ लिया कि मौलवी साहब कुछ देखते-वेखते तो हैं नहीं, बस 'ईक्वल टू' और ये-वो किया और जवाब धर दिया। यह बहुत अच्छी बात रहती है सवाल की किताब में, जवाब आख़िर में लिखा रहता है ! प्रेम से लिखते चले गये, किसी में एक स्टेप किसी में दो, किया न किया पर जवाब बिल्कुल सही ! एक साहब और थे जो जुग़राफ़िया पढ़ाते थे, भूगोल। वो नक़्शा बहुत बनवाते थे। जो सब बातें ये मैं बता रहा हूँ, छठीं, सातवीं, आठवीं जमात की हैं, उसके बाद तो हम जैसे अलग ही हो

गये। क़िस्सा कोताह ऐसी तो दो-एक यादें हैं जब शाम हो गयी है, झुटपुटा हो गया है, और मैं घर के अन्दर बैठा यही सब होमवर्क करता रह गया हूँ, तो मुंशी जी ने मुझे देखा और डपटकर बाहर भेजा, कहा — जाओ, बाहर खेलो, ये क्या है कि शाम को भी तुम बैठे रहते हो। लिहाज़ा ऐसी तो कुछ यादें हैं, पर इसकी बिल्कुल नहीं कि उन्होंने कहा हो, भाई कभी पढ़ भी लिया करो। मारने की भी याद नहीं। सुनते हैं, मेरी माँ कहा करती थीं, कि एक दफ़ा उन्होंने मेरे ऊपर हाथ चलाया था। लेकिन मेरी माँ ने झेल लिया और इस तरह मैं उससे भी बच गया। ग़रज़ कि उन्होंने मुझे कभी पढ़ने के लिए नहीं कहा। इसलिए और भी अच्छे लगते थे। सच, उनके साथ मेरा बड़ा अच्छा संबंध था — जो पिता-पुत्र के संबंध से अधिक दोस्ती का संबंध था। रात में अक्सर देर तक काम करते रहते थे। दस तो बज ही जाता था, और पेट के मरीज़ थे। जैसा कि आपको पता ही होगा पेट के मरीज़ को देर से नहीं खाना चाहिए। यों तो किसी को देर से नहीं खाना चाहिए पर पेट के मरीज़को तो और भी नहीं। उन्हें जब देर हो जाती थी तो हम लोग दूत के समान, यमदूत के समान, भेजे जाते थे कि जाकर उठा लाओ। जब हम लोगों के जाने से भी वो न आते तब माँ ही अपनी चट्टी पहने खटपट करती हुई जाती थीं। तो वो असल परवाना होता था कि मियाँ अब उट्ठो, अब और नहीं बैठ सकते। बहुत बार यह होता था कि हम सब घर के बच्चें सो जाते थे, लेकिन उनके साथ खाना खाने का मोह इतना बड़ा था, कि हम जब उनका रास्ता देखते-देखते सो जाते तो हमें जगाकर खिलाया जाता था। तो उनको तो मैंने कभी भी वैसे पिता के रूप में नहीं जाना। अक्सर ये समझा जाता है कि पिता और पुत्र के बीच कुछ दूरी होनी चाहिए, कुछ आतंक होना चाहिए, कुछ रोबदाब होना चाहिए। लेकिन उनके पास किसी के लिए रोबदाब नहीं था तो मेरे लिए ही क्यों होता। मैत्री का जो एक स्तर होता है वही मैंने उनके भीतर अपने प्रति हमेशा पाया, और मैं समझता हूं कि जो भी उनके संपर्क में आया शायद वह इस बात का साक्ष्य देगा कि उसने भी केवल मैत्री का स्तर उधर से पाया होगा। हो गये उपन्यास-

सम्राट, बड़ा नाम हो गया, लेकिन थे बहुत सीधे-सादे क़िस्म के आदमी। इसी सिलसिले में एक और बात मेरे ध्यान में आती है और वह ये कि मुंशीजी यों तो अपने तमाम चाल-चलन और बोल-बर्ताव में बहुत सीधे-सादे, पारदर्शी आदमी थे लेकिन नये लेखक के साथ अपने संबंध में, उसी की मंगल-कामना से प्रेरित एक चालाकी भी बरतना उनको ख़ूब आता था। वो इस बात को जानते थे कि नया लेखक एक ऐसा जानवर होता है जिसको कोई कुछ नहीं समझा सकता, जो अपने आपको भगवान समझता है। उसकी आलोचना करना दीवार में सिर मारना है, वो कभी आपकी एक बात नहीं सुन सकता। वो समझता है कि मैं जो कुछ लिख रहा हूँ ऐसा न कभी किसी ने लिखा और न कभी कोई लिखेगा! तो यह बात वो जानते थे, लेकिन इसके साथ ही वो यह भी जानते थे कि नयी प्रतिभा को पहचानने और अपने भरसक उचित दिशा-निर्देश देने का दायित्व भी टालने की चीज़ नहीं है। मैं कुछ प्रतिभा देख रहा हूँ किसी आदमी में और चाहता हूँ कि वह अच्छे किनारे जाकर लगे, कुछ बड़ा काम करे तो मैं उससे कुछ कहना चाहता हूँ। लेकिन कैसे कहूँ? इसी में से उन्होंने अपना रास्ता निकाला। रचना पढ़ने के बाद या सुनने के बाद पहले तो तारीफ़। तमाम लोगों के पास उनकी ऐसी तारीफ़ की चिट्ठियाँ आयीं। जैसे अश्क ने भी कभी लिखा कि उनकी 'निशानियाँ' कहानी पढ़ने के बाद प्रेमचन्द ने उन्हें चिट्ठी लिखी और वो उसे जेब में लिये-लिये घूमता रहा काफ़ी दिनों तक और सबको बताता रहा कि देखो मेरे पास मुंशी प्रेमचन्द का ख़त आया है, उन्होंने लिखा है कि मैंने 'निशानियाँ' जैसी कहानी कभी ज़िंदगी में नहीं पढ़ी। या जैसे वीरेश्वरसिंह जो बाँदा के थे। उस ज़माने में उन्होंने कुछ बड़ी खूबसूरत चीज़ें लिखी थीं। दुर्भाग्यवश वे आगे चले नहीं, जैसा बहुत-सी अच्छी प्रतिभाओं के साथ भी होता है। बहुत लम्बी यात्रा है, बड़ी टेढ़ी यात्रा है, पचासों तरह के भटकाव हैं इस लेखकीय यात्रा में। वीरेश्वर इस यात्रा में भटक गये लेकिन उस ज़माने में बहुत अच्छी चीज़ें लिखी थीं। उन्हीं दिनों उनकी 'उँगली का घाव'

शीर्षक बहुत अच्छी कहानी निकली थी, जिसकी तारीफ़ में मुंशीजी ने लिखा था, तुम्हारा क़लम चूम लेने को जी चाहता है, काश मेरे पास तुम्हारा क़लम होता! तो एक तो पहले इस तरह आपने उसे हस्तगत किया। आलोचना का एक शब्द नहीं क्योंकि तब वह चिट्ठी चिन्दी-चिन्दी करके रद्दी की टोकरी में फेंक दी जायेगी! इसलिए पहले तो तारीफ़, फिर बाद में, जब कुछ समय गुज़र गया और कुछ प्रसंग आया तो कुछ सुझाव के रूप में हल्के से ऐसा कुछ कह देना कि भाई, वैसे तो कहानी अच्छी है पर इसमें इतना और कर लेना, इस बात को ज़रा ऐसे कहकर देखो या कथानक को अगर ऐसा कुछ मोड़ दे दिया जाय तो कैसा रहे। मेरा भी उनके साथ कुछ ऐसा ही अनुभव रहा। मैं भी एक नया लेखक था, मैं भी अपने को ख़ुदा समझता था। उस ज़माने की बच्चों की पत्रिकाओं में लिखता था। आज भी मन करता है कि वो 'बालक' और 'बालसखा' और 'किशोर' वग़ैरह देखने को मिलते, आख़िर कैसे-कैसे मोती मैंने बिखेर रक्खे थे वहाँ! मैं उस समय बारह-तेरह का था जब लिखना शुरू किया। लगभग उन्हीं दिनों की कोई कहानी होगी जिसे मैं अपनी समझ में बच्चों की कहानी नहीं समझता था, जिसको मैं वयस्क कहानी समझता था! बहुत करुण कहानी थी वह। मृत्यु से ज़्यादा करुण तो कुछ होता नहीं, फलतः मेरे सभी पात्र मर गये थे! यानी आप ये समझिए कि वो कहानी क्या थी अच्छा ख़ासा एक मरघट था, जिसमें यहाँ से वहाँ तक लाशें ही लाशें बिछी हुई थीं! उन दिनों मैं नवीं में पढ़ रहा था इलाहाबाद में और मुंशीजी बम्बई में दस महीने पूरे करके बनारस आ गये थे। मैंने सोचा मुझे कहानी उनको भेजना चाहिए और उनकी राय लेना चाहिए। बस मैंने कहानी भेज दी। यह सन् ३५ की बात है। अब तो वह चिट्ठी भी सँभालकर नहीं रखी। एक बार फ़िराक़ से मैंने कहा — फ़िराक़ साहब, आपको इतनी चिट्ठियाँ लिखीं मुंशीजी ने, आपने एक भी सँभालकर नहीं रखी? तो फ़िराक़ ने जवाब दिया, 'अमाँ कौन जानता था कि ये प्रेमचन्द एक दिन इतना बड़ा आदमी हो जायेगा!' तो साहब, मैं भी नहीं जानता था, मैंने भी वो ख़त सँभालकर

नहीं रखा। लेकिन उस ख़त में उन्होंने जो असल मुद्दे की बात लिखी थी वह मेरे सीने पर आग की एक लकीर की तरह जैसे हमेशा के लिए नक़्श हो गयी और उसका वास्ता आपसे है इसलिए बता रहा हूँ। लिखा कि बेटे, तुम्हारी कहानी बहुत अच्छी है, ये है ... वो है ... प्रशंसा के कुछ शब्द, और बाद में फिर बहुत दबी ज़बान से लिखा कि अगर इतनी मौतें न हुई होतीं तो ज़्यादा अच्छा होता! करुणा जगाने के लिए लेखक को अगर मौत का सहारा लेना पड़े तो यह उसकी बहुत बड़ी कमज़ोरी है। मगर साहब, वो आदमी उससे भी बहुत बड़ा था जितना बड़ा इन जुमलों से मालूम पड़ता है। उसने कहा — लेकिन वैसे मैं ख़ुद इस कमज़ोरी का शिकार हूं। यह जो जुमला था, यह कोई छोटा आदमी लिख ही नहीं सकता। ३६ में तो वह बेचारा चला ही गया। ३५ में भी उपन्यास-सम्राट वग़ैरह तो बन ही चुका था, यानी कि अपनी कीर्ति के शिखर पर था और बात कर रहा था एक तेरह-चौदह साल के लड़के से जो क़लम पकड़ना सीख रहा है! लेकिन उससे भी बात करते समय उन्होंने यह वाक्य लिखना ज़रूरी समझा। यही उसका असल बड़प्पन है, उसकी यह सादगी, यह विनयशीलता उसकी। और शायद सबका यही अनुभव होगा कि इसी तरह कही गयी बात मन पर गहरा असर करती है; ऊंचे आसन पर बैठकर दिये गये प्रवचन के लिए तो कान पहले ही बहरे हो गये रहते हैं। सादगी तो अनजाने ही पहलू में उतर जाती है। इसीलिए जैसा मैंने अभी-अभी आपसे कहा था, प्रेमचंद का वह वाक्य एकदम आग की लकीर की तरह मेरे सीने पर नक़्श हो गया। इसीलिए, अगर आपने मेरा लिखा कुछ भी पढ़ा होगा तो देखा होगा कि मेरे यहाँ शायद ही कोई मरता हो, अकसर मरते-मरते बच जाता है।

वह आदमी लेखक बहुत बड़ा था पर आदमी उससे भी बड़ा। जो चीज़ उसको बहुत बड़ा बनाती है लेखक के नाते वह है उसका अपने देश की धरती से गहरे रूप में जुड़ा हुआ और उसी से अपना प्राण-रस खींचता हुआ उसका सजग, अत्यन्त सजग विचारक। हर लेखक विचारक होता है। कम से कम प्रेमचन्द का समस्त लेखन समाज-परक सोद्देश्य लेखन है। उसके बारे में कोई दुरंगापन वहाँ नहीं है,

कोई छिपाव-दुराव नहीं है। 'वह कला कला के लिए' को नहीं मानता। वह कहता है — मैं इसलिए लिखता हूँ कि अपने देश के कुछ काम आ सकूँ। अपनी इसी एक महत् प्रेरणा से वो जीवन के, समाज के, अर्थनीति के, राजनीति के प्रश्नों पर सोचता-विचारता है। और ये चीज़ उसके साहित्य में हमेशा उतरकर आती हुई देखी जा सकती है। आजकल बहुत से लेख मुंशीजी के विषय में निकल रहे हैं। हर आदमी जो कुछ लिख रहा है प्रेमचन्द के बारे में, उसमें उसकी कोशिश कुछ इस क़िस्म की दिखायी पड़ती है कि वह प्रेमचन्द को अपने ही सोच के ढाँचे में. ढाल दे — कि जैसे प्रेमचन्द वही कुछ थे जैसा कि वह खुद आज के दिन सोच रहा है। कोई उन्हें आर्यसमाजी बना देता है, कोई कम्युनिस्ट, कोई गांधीवादी, कोई कुछ। ये चीज़ मुझे कुछ वैसी ही लगती है जैसी अंग्रेज़ी में वो एक कविता है न, जिसमें छ-सात अन्धे हैं जो यह जानना चाहते हैं कि एक हाथी जो उनके सामने खड़ा है वो क्या है, कैसा है। सब उस हाथी को छूकर. टटोलकर देखते हैं। एक के हाथ में कान आ जाता है तो वो कहता है, हाथी पंखे के जैसा है; दूसरे के हाथ में पैर आ गया तो वो कहता है हाथी पेड़ के तने जैसा है ... आदि आदि।

प्रेमचंद के साथ भी कुछ यही बात है। उसे खंडतः देखिए तो वो वह सभी कुछ है पर उसके विकास-क्रम में समग्रतः देखिए तो बात बदल जाती है। जैसा कि सब जानते हैं, मुंशीजी ने एक डाक-मुंशी परिवार में जन्म लिया। गाँव के परिवेश में रहे। पहले तो एक मौलवी साहब के यहाँ बैठकर, जैसा कि पुराना कायस्थोंवाला ढंग था, फ़ारसी से उन्होंने पढ़ाई शुरू की। शायद यह भी कहा जा सकता है कि उनकी पहली ज़बान उर्दू ही रही, क्योंकि सन् २४ के पहले की उनकी रचनाओं के मसौदे उर्दू में ही मिलते हैं, सन् २४ के बाद उनके मसौदे हिंदी में मिलने लगते हैं। वो जो भी ज़बान लिखते थे, अपने अंतिम दिनों तक में उन्होंने यह कोशिश की कि उर्दू और हिन्दी का यह जो अलगाव है वह दूर हो जाये और ये दोनों भाषाएँ, जो मूलतः एक हैं, फिर से एक हो जायें। वो ख़ैर जो हो, प्रेमचंद का रचना-संसार बहुत विशाल है। तिलिस्म और ऐयारी की कहानियों से शुरू करके, क्योंकि तब उर्दू और हिन्दी दोनों में उन्हीं

का बोलबाला था, प्रेमचंद ने साहित्य को सामाजिक नवजागरण का माध्यम बनाया। इसीलिए उनके विचारों में एक क्रमिक विकास मिलता है। उनकी आरम्भिक चीज़ों में तो आपको समाज सुधारक का, आर्यसमाजी समाज सुधारक का रंग मिलेगा। यह भी ठीक है शायद कि वो आर्यसमाज से संबद्ध रहे, उस ज़माने में जब वो हमीरपुर में थे। दो-एक चिट्ठियों में उल्लेख मिलता है इसका। किसी को लिखा है कि आप हमें जो पैसा भेजनेवाले हैं वो वहाँ अमुक को सीधे चन्दे की रक़म की तौर पर भेज दीजिए। फिर उस समय की राजनीति में जो दो दल थे, गोखले का दल एक तरफ़ और तिलक का दल दूसरी तरफ़, उसमें मुंशी दयानारायण निगम गोखले के नरम दल के साथ थे और मुंशी प्रेमचन्द तिलक के गरम दल के साथ थे। उन्हीं दिनों बंगाल में क्रांतिकारी आंदोलन भी हुआ तो उस समय की प्रेमचन्द की रचनाएँ, जो उस वक़्त उर्दू में ही थीं, आप देखें तो पायेंगे कि वो क्रांतिकारियों.को जोश दिलानेवाली चीजें होती थीं। उस आंदोलन से ही अपनी क्रान्ति-चेतना पाकर वह इस रूप में अपना योगदान कर रहा था। वही सब बाग़ी रचनाएँ 'सोज़े वतन' के नाम से पुस्तकाकार छपीं, सरकार के कान खड़े हुए और उसने पुस्तक ज़ब्त करके उसकी प्रतियों को आग लगा दी और कलक्टर ने उनसे कहा, मियाँ तुम बहुत ख़ुशक़िस्मत हो जो अंग्रेज़ी अमलदारी में हो। अगर मुग़लों का राज होता तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिये जाते!

जैसा आप जानते हैं, पहले वो नवाबराय के नाम से लिखा करते थे। इस क़िस्से के बाद उन्होंने अपना लेखकीय नाम बदलकर प्रेमचन्द रख लिया, जो मुंशी दयानारायण निगम का दिया हुआ नाम है। इस तरह वह अपना नाम बदलकर लिखते भी रहे और राजनीति में तिलक के साथ भी रहे। फिर गांधीजी आये। यह कहना एक जगह बिल्कुल सही है कि गांधीजी का असर उन्होंने लिया। वह असर बहुत सी चीज़ों में देखा जा सकता है। और जैसा मैंने समझने की कोशिश की और काल के अनुक्रम में रखकर देखा, मैंने लिखा भी है अपनी किताब में कि गांधीजी के साथ मुंशी प्रेमचन्द का सम्बन्ध

गुरु-शिष्य का नहीं, गुरु भाई का था। इस माने में कि गांधीजी भी उसी तरह से टॉलस्टॉय से अहिंसा और सत्याग्रह की तमाम चीजें सीख रहे थे जैसे कि मुंशीजी ने सीखीं। बड़ा अजीब संयोग है कि ठीक उसी समय जब कि मुंशीजी टॉलस्टॉय की कहानियों का अनुवाद हिन्दी में कर रहे थे, गांधीजी उनका अनुवाद गुजराती में कर रहे थे। लेकिन जिस माने में गांधीजी ने आकर भारतीय राजनीति को जन-चेतना और जन-संग्राम की राजनीति बनाया और जिस मतलब में उन्होंने स्वाधीनता के आन्दोलन को कमरे में बैठकर केवल आवेदन-पत्र लिखने और उसको अंग्रेज़ सम्राट के सामने भेजने की नरमदली राजनीति से आगे बढ़ाकर जनता की राजनीति बना दिया; जिस तरह उन्होंने स्वाधीनता-आंदोलन को सड़कों पर ला खड़ा किया; जिस तरह वो गाँव-गाँव अलख जगाते घूमे, लोगों के भीतर गये, और उनके मन पर कुंडली मारकर बैठे हुए लाल पगड़ी के डर को हटाया और जनता को स्वाधीनता आंदोलन के एक सक्रिय अंग के रूप में प्रतिष्ठित किया, मुंशीजी पूरे मन से गांधी के हो गये, इसीलिए कि गांधी से स्वाधीनता-आंदोलन में होनेवाले एक गुणात्मक अंतर की सूचना मिलती थी। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि उन्होंने गांधीजी को उस एक आदमी के रूप में अपने हृदय से मान्यता दी जो कि देश की नब्ज़ को पहचानता है और देश की आज़ादी के आंदोलन को उस दिशा में ले जा सकता है जिस दिशा में गये बग़ैर देश कभी आज़ाद नहीं होगा। लेकिन इसके साथ ही हम यह भी देखते हैं कि कालान्तर में ... अच्छा, यह जो उनका पीरियड है उस ज़माने में हम यह देखते हैं कि उनके बहुत से उपन्यासों में, जैसे कि मान लीजिए 'प्रेमाश्रम' में, जो किसान के शोषण की बात है, वह तो आयी है भरपूर, लेकिन इस समस्या का समाहार इस रूप में किया गया है कि एक प्रबुद्ध तरह का ज़मींदार रहता है जो कि अपनी ज़मीन किसानों में बाँट देता है, जो ही प्रेमाश्रम बन जाता है, यानी कि अकस्मात् हृदय-परिवर्तन हो जाता है! उसी तरह 'सेवासदन' में जो वेश्यावृत्ति है वह कहीं उनके मन को किस बुरी तरह चोट पहुंचाती है, यह उसके भीतर पूरी तरह से झलक रहा है। कैसे

हमारी बहनें-बेटियाँ इस रास्ते पर जाने के लिए मजबूर होती हैं, समाज की कौन-सी कुरीतियाँ हैं जिनके चलते यह सब होता है, यह सब तो अपनी जगह पर ठीक है, लेकिन बात कहीं पहुँचती नहीं क्योंकि इनके पीछे काम करता हुआ निहित स्वार्थों का जो सामाजिक तंत्र है वह ढँका रह जाता है और 'सेवासदन' का भी वैसा ही एक निरे आदर्शवादी ढंग का समाहार हो जाता है। और सच तो ये है कि उपन्यास में ही इसकी गुंजाइश भी रहती है क्योंकि उपन्यास का कलेवर बड़ा रहता है -- कहानियों का कलेवर छोटा होता है, उसमें ऐसा कुछ कहने की गुंजाइश कम रहती है इसलिए कहानियाँ उस तरह की थोप-थाप से मुक्त हैं — लेकिन इसी के साथ-साथ हम यह भी देखते हैं कि विचारों की प्रक्रिया जो उनके भीतर आजीवन चलती रही कि इस देश के लिए क्या अच्छा है और किस प्रकार हम दुर्दशा की स्थितियों से निकलकर एक समृद्ध और सुसंस्कृत समाज की ओर बढ़ सकते हैं तो उस स्तर पर उन्होंने किसी क़िस्म का सुविधाजनक समझौता या छल-कपट अपने विवेक के साथ नहीं किया, उसी तरह से जैसे उन्होंने किसानों के ऊपर ज़मींदारों के शोषण का चित्र देते समय उसमें कोई मिलावट नहीं की है। यह उस आदमी का बड़प्पन है कि उस जगह पर वो अपने देश की जलती हुई सच्चाई के साथ मौजूद है। लेकिन उसकी वह जो प्रवृत्ति है, जो उस पर गांधीजी का असर है, जिसके चलते वो कई बरस गांधी-वादी 'हृदय-परिवर्तन' के नागपाश से अपने को मुक्त न कर पाया, वह भी अन्त समय तक उसका साथ नहीं दे सकी। बरसों वो भीतर ही भीतर उससे लड़ते रहे, फिर होते-होते 'गोदान' तक आकर हम देखते हैं कि वहाँ किसी का भी 'हृदय-परिवर्तन' नहीं होता। इसी दृष्टि से वह किसान के शोषण की बिल्कुल बेमिलावट और अपनी चरम निष्पत्ति तक पहुँचनेवाली कहानी है जिसमें होरी अपनी ज़मीन से हाथ धो बैठता है और फिर खेतिहर मजदूरी या इस तरह का काम करके पेट कमानेवाला आदमी हो जाता है और गोबर बाहर कमाने के लिए चला जाता है। यानी उसके शोषण की जो प्रक्रिया है, ज़मीन से उसका बेदख़ल कर दिया जाना, ज़मीन का उसके हाथ

से छीना जाना, और किसान की मरजाद की बात और यह कि वह अपनी ज़मीन से ही चिपका रहना चाहता है — जिसकी कहानी वह बहुत दफ़े कह चुके हैं, 'बलिदान' कहानी में भी एक किसान बेदख़ल होता है। फिर वो मर जाता है, फिर उसका भूत मँडराता रहता है। बड़ी सशक्त कहानी है। इतनी कि ये सुपर-नेचुरल भी कहानी के भीतर आकर सच हो जाता है, और वास्तविक लगने लगता है। बड़ी ख़ूबसूरत कहानी है। तो वो किसान की मर्यादा की बात, उसके ज़मीन से जुड़े होने की बात, किसी भी क़ीमत पर अन्त तक जुड़े रहने की बात, उस सबके बावजूद उसका ज़मीन से कट जाना, ये सब उन्होंने उसके भीतर लिखा और इसीलिए 'गोदान' बिल्कुल दुःखान्तिका के रूप में, ट्रैजेडी के रूप में हमारे सामने आता है। जो सचमुच उसके भीतर उस 'हृदय परिवर्तन' वाले सिद्धान्त की अन्तिम पराजय की सूचना देता है। इसके बाद 'मंगलसूत्र' में, जो उनका अपूर्ण उपन्यास है और अपूर्ण भी क्या कहें, आप में से बहुतों ने शायद देखा भी हो, मुश्किल से ४०-५० पन्ने ही लिख पाये थे कि दुनिया से ही चले गये, वो उनका कुछ आत्मकथात्मक सा उपन्यास है जिसे मैं केवल इस आधार पर आत्मकथात्मक कह रहा हूँ कि उसके जो नायक रहते हैं, चरित नायक, वह बहुत जाने-माने लेखक हैं लेकिन बहुत ग़रीब। इसलिए लगता है कि उसमें उनके अपने व्यक्तित्व का अंश कुछ ज़्यादा ही उतरकर आने-वाला रहा होगा, वैसे लेखक के व्यक्तित्व का अंश थोड़ा-थोड़ा बिखरकर तो बहुत से चरित्रों में आता ही रहता है, बहुत बार किसी एक विशिष्ट चरित्र के साथ कुछ ज़्यादा ही सम्पुटित होकर आता है; लेकिन यह शायद उससे भी कुछ ज़्यादा होनेवाला रहा होगा। तो उसमें इस तरह के कुछ दार्शनिक प्रश्न उस आदमी को तंग करते हैं कि ये न्याय क्या है, कैसा है? एक ग़रीब आदमी खेत से मटर की बाली ही नोचकर खा ले, कहीं से कुछ ले ले तो क़ानून सज़ा देता है, लेकिन बड़े-बड़े सौदागर और महाजन लूट-खसोट करके बैंकों में लाखों-करोड़ों जमा करते हैं, और समाज उनका बड़ा सम्मान करता है, उन्हें सिर पर बिठाता है, उन्हें तो समाज कोई सज़ा नहीं

देता ! अन्त में वो कहते हैं कि यहाँ दरिन्दों की हुकूमत है; यह दरिन्दों का समाज है और इन दरिन्दों से लड़ने के लिए हमें हथियार बाँधना ही पड़ेगा। कुछ लोगों को सब अच्छा ही अच्छा नज़र आता है, उन्हें कहीं कोई बुराई नहीं दिखायी पड़ती, तो उन्हें अन्धा क्यों न कहो, कायर क्यों न कहो ? आँखवाले तो वो हैं, बहादुर तो वो हैं जो न्याय की रक्षा के लिए लड़ते-लड़ते अपने प्राणों की बाज़ी लगा दें। रहे ये दरिन्दे, तो ये तो इसी तरह शोषण करते ही रहेंगे। इनसे लड़ने के लिए हमें हथियार बाँधना ही पड़ेगा। दरिंदों का शिकार बनना देवतापन की निशानी नहीं, जड़ता की निशानी है। इस तरह के वाक्य आते हैं। 'मंगलसूत्र' और 'महाजनी सभ्यता' उनकी दो अन्तिम दस्तावेज़-जैसी चीज़ें हैं। 'महाजनी सभ्यता' में वो अपनी उम्मीद को टिकाना चाहते हैं इस अन्याय की दुनिया से अलग उस नये समाज पर जो अभी बन रहा है। वो उसका स्वागत करते हैं, अभिनंदन करते हैं। ऐसे गंभीर विचारशील भविष्य-द्रष्टा को मुट्ठी भर कलावादी अप्रासंगिक कहने का दुःसाहस भी कैसे करते हैं, यही मेरे लिए बड़े आश्चर्य की बात है। जो हो, सबको अपने ढंग से सोचने का अधिकार है। पर मैं तो कभी-कभी उसकी दूरदृष्टि को देखकर अवाक् हो जाता हूँ। पता नहीं, आप ने वह लेख देखा है या नहीं। मैंने ख़ुद नहीं देखा था; बाद में नज़र आया, उर्दू के किसी पत्र में। फिर मैंने उसे हिन्दी में 'नया ज़माना पुराना ज़माना' के नाम से दिया। १९१९ का लिखा हुआ उनका लेख है। उसको पढ़कर ताज्जुब होता है कि इस आदमी की नज़र कितनी दूर तक सामाजिक प्रश्नों के बारे में पहुँचती थी। अभी कांग्रेस का आंदोलन शुरू नहीं हुआ. केवल संगठन कुछ-कुछ खड़ा होने लगा है, गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से लौट आये हैं, और यहाँ की स्थितियों को समझ रहे हैं और कुछ कांग्रेस के संगठन यहाँ-वहाँ बनने शुरू हुए हैं लेकिन जिस तरह वो संगठन बनना शुरू हुआ है और बनने के साथ ही उसके भीतर कुछ श्रेणीगत अन्तर्विरोध दिखायी पड़ रहे हैं, उन अन्तर्विरोधों को वह आदमी उस इन्सीपिएन्ट हालत में, जब कि उन्होंने ऐसी कोई शक्ल नहीं ली है कि कोई दूसरा आदमी देख सके, उनको वह

देख रहे हैं। अगर आप पढ़ें तो देखेंगे कि वह खुद अपने आप में इस क़दर प्रोफ़ेटिक क़िस्म का डॉक्यूमेंट है कि हैरत होती है, एक ऐसा लेख जो कि उस आदमी की बड़ी गहरी सामाजिक और राजनीतिक अन्तर्दृष्टि का पता देता है। ऐसी अन्तर्दृष्टि जन-साधारण के साथ बहुतगहरे लगाव के भीतर से ही पैदा हो सकती है। उसी तरह उनकी एक कहानी है, सन् तीस की कहानी, 'आहुति'। उसमें एक नायिका कहती है, देखिए कितनी दूर तक जानेवाली बात — 'अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे तो मैं यही कहूँगी कि ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा है। अंग्रेज़ी महाजनों की धनलोलुपता और शिक्षितों का स्वार्थ ही आज हमें पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को प्रजा क्या इसलिए सिर चढ़ायेगी कि वे विदेशी नहीं स्वदेशी हैं? कम से कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविंद बैठ जाये।' तो यह जो गहरी नजर है, यह उस आदमी के भीतर काफ़ी शुरू से दिखायी पड़ती है। उनकी पहली रचना जो मुझे बिल्कुल संयोगवश बनारस से निकलनेवाले एक निहायत फटीचर अख़बार जिसका नाम 'आवाज़े ख़ल्क़' था और जिसकी फ़ाइल, यों तो अच्छे-भले पत्रों की फ़ाइल भी इस देश में मिलना है कितना मुश्किल है लाइब्रेरी में, तब उस 'आवाज़े ख़ल्क़' जैसे पत्र की फ़ाइल कोई क्यों रखता, इसलिए उसकी कोई उम्मीद नहीं थी लेकिन वह भी संयोगवश मुझको बनारस की एक गली में मिल गयी। मैंने किसी से कहा, किसी ने किसी और से कहा, कुछ क़िस्मत ने साथ दिया। वो एक मुसलमान सज्जन थे जो बड़े उपयोगी साबित हुए; उनके सहयोग से वह अख़बार मिल गया। उसमें मुंशी जी का यह उपन्यास धारावाहिक छप रहा था, 'असरारे मआबिद' उर्फ़ 'देवस्थान रहस्य'। वह एक हफ़्तावार अख़बार था और उसमें छोटे-छोटे टुकड़े निकलते थे। गंगाजी के इर्द-गिर्द की दुनिया, विश्वनाथ का मन्दिर, पण्डा, पुजारी, महंत वग़ैरह की कहानी है वह और उन पर ज़बर्दस्त चोट की है उन्होंने।

मुंशीजी पर रतन नाथ सरशार की ज़बान और तर्ज़े बयान का गहरा असर था, इतना कि उस ज़माने में सरशार और अब्दुल हलीम शरर को लेकर लेखकों के जो दो अलग गिरोह बन गये थे, जिनमें आपस में काफ़ी चोंचें चलतीं रहती थीं, उसमें मुंशीजी सरशार के झंडाबरदार थे। उन्हीं के रंग में उन्होंने यह क़िस्सा लिखा है और ख़ूब रस लेकर लिखा है। यह भी एक विचित्र संयोग है कि उसका पहला अंश ८ अक्तूबर १६०३ को प्रकाशित हुआ और उसी ८ अक्तूबर १६३६ को प्रेमचन्द का निधन हुआ! इसलिए जहाँ पर जितना पीछे अब उनका लेखन काल चला गया है, उसको पूरे ३३ वर्ष मानना चाहिए और इन ३३ वर्षों में हम बराबर एक ऐसे आदमी को आगे बढ़ते हुए देखते हैं जो कि अपने समाज से, जन-साधारण से, उनकी ज़िन्दगी के हर रगोरेशे से अधिकाधिक परिचित होता चलता है और ख़ूब गहराई से उनको समझ रहा है और उतनी ही गहराई से उनकी कहानी को कह रहा है। और यही वह चीज़ है जहाँ पर वह आज भी तमाम पाठकों के दिल को अपने हाथों में पकड़े हुए है। इन दिनों कभी-कभी ऐसी इक्का-दुक्का आवाज़ सुनायी पड़ती है कि प्रेमचंद अब प्रासंगिक नहीं रहें। मुझे इस बात पर हँसी आती है, इस माने में कि प्रेमचन्द की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिन्ह लगा रहे हैं वो जो खुद नितान्त अप्रासंगिक हैं! यह मेरे कहने की बात नहीं है, आप जाकर किसी भी पुस्तकालय में देखिए सबसे ज़्यादा किताबें किसकी पढ़ी जाती हैं? आप पायेंगे कि प्रेमचन्द अब भी उसी जगह पर बैठा हुआ है। मेरे देखने में तो प्रेमचन्द की इमेज विशाल से विशालतर ही होती जा रही है। उसकी प्रासंगिकता मुझे तो कहीं घटती हुए नहीं दिखायी पड़ती। इसलिए घटती हुई नहीं दिखायी पड़ती कि उसने समाज के ज्वलन्त प्रश्नों के साथ अपने को जोड़ा है, और समाज के वो ज्वलंत प्रश्न आज पहले से कुछ ज़्यादा ही तेज़ी से जलते हुए सुलगते हुए नज़र आ रहे हैं। जब तक वो तीखे सवाल हमारे यहाँ मौजूद हैं और ज़ुल्म-ओ-सितम का समाज हमारे बीच है; जब तक हमारे समाज के भीतर इसी तरह से शोषण होता चलेगा, इसी तरह की ऊँच-नीच की दीवारें खड़ी रहेंगी और इसी तरह से ग़रीब

आदमी रोज़ ग़रीबतर और अमीर आदमी अमीरतर होता रहेगा तब तक प्रेमचन्द की प्रासंगिकता को कहीं कोई चोट पहुँचनेवाली नहीं है। कहीं-कहीं ये भी आवाज़ उठती है कि प्रेमचन्द अगर ज़िन्दा हैं तो अपनी क़िस्सागोई के बल पर। पहली बात तो यह है कि ज़िन्दा हैं, काहे के बल पर ज़िन्दा हैं यह बाद का सवाल है। और अगर क़िस्सागोई के बल पर ज़िन्दा हैं तो इसमें बुरा क्या है ? लोग तो दुनिया में और बहुत से गुनाह करते हैं तो भी ज़िन्दा नहीं रह पाते, तो फिर क़िस्से में क़िस्सागोई का होना कौन-सा ऐसा गुनाह है ? यह क्या बात हुई कि हम ऐसी कहानी लिखेंगे कि दूसरा पढ़े ही नहीं ! लानत है ऐसी कहानी लिखने पर। गीत तो फिर भी अकेले में गुनगुनाने की चीज़ है, उसके लिए किसी दूसरे आदमी का होना इतना कुछ अनिवार्य नहीं। आदमी यों ही गुनगुनाता है। अगर सुनने-वाला भी मौजूद हो तो क्या कहना, सोने में सुहागा, लेकिन न भी हो तो कोई हर्ज नहीं, मगर कहानी कमबख़्त ऐसी चीज़ है कि किसी को सुनायी ही जा सकती है, खुद अपने को मैं कैसे कहानी सुनाऊँ ! उसके लिए तो उस अगले आदमी, श्रोता या पाठक, की ज़रूरत होती है जिसके सामने मैं अपना सीना खोलूँ। तो यह जो क़िस्सा-गोई है, उसका इतिहास बड़ा पुराना है। मेरे विचार से वह बड़ा अभागा दिन होगा जब क़िस्सागो लोगों का ट्रेडिशन इस दुनिया से बिल्कुल ही उठ जायेगा। मैं तो अब तलाश करता हूँ कि मुझे कोई क़िस्सागो मिले और मैं देखूँ कि वो कैसे घण्टों-घण्टों, दिन के दिन लोगों को बाँधे रहते थे। मुझे पक्का विश्वास है कि दो-चार लोगों के कहने से क़िस्सागोई नहीं मिट जायेगी, कथा-रस तो होना ही पड़ेगा, ये और बात है कि उसका रूप-रंग, उसके एम्फ़ेसिस बदलते चलें, उसमें कुछ नये आयाम जुड़ते चलें। क़िस्सागो शुरू करता था, तो मान लीजिए घोड़े का ज़िक्र आया तो पचास तरह के घोड़े ही आपको गिना गया। अब आप पचास तरह के घोड़े गिनाते बैठिएगा तो आदमी कहानी बंद करके चला जायेगा। इसलिए आप घोड़े भले मत गिनाइए लेकिन जो एक मूलभूत कहानी का रस है, जो एक बात आपसे कही जा रही है, कोई अपना दर्द जो आपसे कह

रहा है, कोई अपना सपना जो बाँट रहा है, वह तो रहेगा ही रहेगा। वह नहीं रहेगा तो कहानी कहानी न होगी, और जो कुछ भी हो। यह तो जो हमारा बहुत ही, जिसको हम अंग्रेजी में 'ऐटमाइज़्ड' समाज कहते हैं जिसमें हर आदमी अपने भीतर सम्पुटित एक इकाई बनता जा रहा है, उसका यह अभिशाप है कि उसको दूसरा आदमी मिलता ही नहीं जो दिलचस्पी ले रहा हो उसमें। तो इस तरह हर आदमी अपने में एक द्वीप बनता चला जा रहा है। यह कोई अच्छी स्थिति नहीं है। यहाँ बैठकर यह बात अच्छी लगती है जो हमारे पश्चिम से प्रभावित कुछ लेखक कर रहे हैं कि एलियेनेशन का राग अलापते हुए, चाहे ऊपर से कुछ थोप-थापकर ही हो, हर आदमी को निपट अकेला दिखाते चले जाते हैं कि जैसे यही उसकी नियति हो, यह कुछ अच्छी बात नहीं है। इस एलियेनेशन से जिनको सचमुच काम पड़ता है, जो उस समाज में रहते हैं, आप उनके दिल से पूछिए कि उस पर क्या बीत रही है। उसकी तो पुकार है एक ऐसा समाज जिसमें हर आदमी दूसरे आदमी से जुड़ सके और इसके लिए वो देखते हैं एशिया की तरफ़ और अफ्रीका की तरफ़, मगर यहाँ तो कुछ दूसरी ही हवा चलाने की कोशिश हो रही है। यहाँ बैठकर कुछेक डेकेडेंट लेखकों ने आपसे एक बात कह दी, एक फ़ैशन चल पड़ा, आप भी उस फ़ैशन के पीछे चल पड़े! कौआ कान ले गया, आप कौए को देख रहे हैं, अपना कान नहीं देख रहे हैं! यह तो कोई तरीक़ा नहीं हुआ। हर चीज़ की अंतिम कसौटी है आदमी का अपना विवेक जो उसके सौन्दर्य-बोध, सत्य-बोध, शिवत्व-बोध, अर्थात् समग्र मूल्य-बोध का ही दूसरा नाम है। उसको ताक़ पर रखकर, उसे अफ़ीम देकर सुलाकर कहीं कोई अच्छा और प्रासंगिक और सार्थक लेखन नहीं किया जा सकता। वह ज़िंदा रहे, वही आपकी अंतिम कसौटी है; उस पर कसकर देखिए तो यह एलियेनेशन अभिशाप है। इस एलियेनेशन से निकलने के रास्ते इन्सान आज ढूँढ़ रहा है, और अगर वो रास्ते आदमी नहीं ढूँढ़ सकेगा तो ये दुनिया नष्ट हो जायेगी। हमारे इस ऐटमाइज़्ड समाज में, जो सुपरटेकनॉलोजी का समाज है, जिसमें हर आदमी मशीन का एक पुर्ज़ा बनता चला जा रहा है। उसकी यह जो स्थिति है उसी में से यह एक्ज़ि-

स्टेशियल स्थिति निकलती है। लेकिन इस स्थिति को एक बहुत कमनीय स्थिति मान लेना, अनुकरणीय स्थिति मान लेना कहाँ की समझदारी है? नियति मान सकते हो, लेकिन उस नियति के ख़िलाफ़ उसको बदलने के लिए, आदमी यथाशक्ति लड़ता भी है। तो यह जो मानसिकता है कि क़िस्से में से क़िस्सागोई चली जाय, हम कुछ गरम-गरम बातें कहकर कहानी को चला ले जायें या अपनी ऊब और उकताहट की गाँठों को अपने भीतर से निकालकर रख दें तो वो पाठक को बाँध लेंगी, पर अनुभव बताता है कि ऐसा होता नहीं। नतीजा होता है कि आपकी पाठक-संख्या दिनोंदिन गिरती चली जाती है, और तब हमें कभी चौथे पाठक की तलाश रहती है और कभी पाँचवें पाठक की! और अंततः आपका लेखन साहित्य का व्यापक-विस्तृत क्षेत्र घटिया 'लोकप्रिय' साहित्य के लिए खुला छोड़कर खुद कहीं एक कोने में सिमटकर रह जाता है। क्यों? इसलिए कि आप जो लिख रहे हैं और अपनी समझ में बहुत दूर की कौड़ी ला रहे हैं, उसका आपके देश-काल से, अपने जीवन से कोई संबंध नहीं होता। आपने कुछ थोड़ा सा बाहर का पढ़ा है, और उसी के बल पर आप एक आटोप खड़ा कर रहे हैं, तो यह तो कोई सार्थक लेखन का तरीक़ा नहीं है। आप अपने आपको जोड़िए समाज से और तब अपनी बात कहिए; वह आपका जीवन्त अनुभव होगा और वह उतने ही अच्छे तरीक़े से अपने लिए जीवन्त शिल्प भी पा लेगा। बहुत-बहुत बहस वस्तु और शिल्प को लेकर भी की जाती है। कुछ लोग कहते हैं कि प्रेम-चंद की कहानी में शिल्प नहीं है और ये कि आज की कहानी का शिल्प बहुत आगे बढ़ा हुआ है। मैं नहीं जानता, क्योंकि मैं अपनी छोटी बुद्धि से शिल्प को वस्तु से अलग करके देख ही नहीं पाता। मैं समझता हूँ कि बहस के लिए भी जब हम वस्तु और शिल्प को अलग करने की बात कर रहे हों उस समय भी दिमाग़ के कोने में कहीं यह बात रहनी चाहिए कि हम सिर्फ़ बहस के लिए ऐसा कर रहे हैं, क्योंकि शिल्प वस्तु के भीतर निहित रहता है। जिस समय मेरे मन के भीतर कोई कहानी उदित होती है, कोई कथा-बीज आता है,

उसी समय उसके साथ उसका शिल्प भी उसी बीज रूप में आ जाता है। फिर ये जो दो बीज हैं, कथा-वस्तु का बीज और कथा के शिल्प का बीज, वो जब मेरी रचना-प्रक्रिया के भीतर एक दूसरे से उलझते-सुलझते हैं, गुत्थमगुत्था होते हैं, तभी दोनों कुछ-कुछ और रूप लेने लगते हैं और जो कथाबीज था वह एक बड़ा वृक्ष बनने लगता है, नयी शाखाएँ-प्रशाखाएँ फूटने लगती हैं और उसी के साथ-साथ वह शिल्प जो केवल एक अंकुर के रूप में पहले था, वह भी कहानी के आगे बढ़ने के साथ-साथ अपना विशिष्ट आकार ग्रहण करने लगता है। और जिस तरह शिल्प को वस्तु से अलग करके नहीं देखा जा सकता, उसी तरह से वस्तु को शिल्प से अलग करके नहीं देखा जा सकता। आप लिखना शुरू करते हैं, लिखने के क्रम में ही जिन शब्दों का चयन आप करते हैं, आपके कथा-लेखन का शिल्प सबसे पहले उसी भाषा से बनता है। शब्द अनन्त हैं, हर आदमी के पास ४०-५० हज़ार शब्दों का एक कोष होता है। मैं पूछना चाहता हूँ कि कोई एक शब्द ही आप क्यों चुनते हैं, दूसरा शब्द क्यों नहीं ? लगभग एक ही अर्थ देनेवाले कई-कई शब्द होते हैं। फिर ऐसा क्यों होता है कि जब आप उनमें से कोई एक शब्द अपने लिए चुनते हैं, तब ही क्यों आपका सर्जक मन कहता है कि अब वह शब्द मिला जिसकी तलाश थी ? जब कथा-बीज आया था मन में तब उसके साथ उसका शब्द भी आया था लेकिन न तो पूरी कथा की बात ही तब आपके मन में स्पष्ट थी और न वह भाषा ही स्पष्ट थी। इन दोनों का जब विद्युत् सम्बन्ध हुआ, दोनों का आपस में टकराव हुआ, यही वो रचना की प्रक्रिया है जो बड़ी ही जटिल, रहस्यमय और सुखकर प्रक्रिया है। मुझे लगता है कि शुरू से ही दोनों साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। जैसे कहा गया है कि शब्द से अर्थ को अलग नहीं किया जा सकता या देह को आत्मा से, उसी तरह शिल्प से वस्तु को अलग नहीं किया जा सकता। जो लोग अलग से शिल्प के ऊपर ज़ोर देते हैं, बहुत बार देखने में आता है कि उनका वस्तु-पक्ष दरिद्र होता है, इसी-लिए वो शिल्प पर बहुत ज़ोर देते हैं, और समझते हैं कि शिल्प के बल पर अपनी चीज़ को खींच ले जायेंगे। लेकिन वह केवल शिल्प

के बल नहीं खिंच पाती, वह खिंचती है, उस एकीकृत सर्जनात्मक अनुभव के बल पर जो कि दोनों का मिला-जुला रूप बनकर, आपके भीतर के विवेक से अनुप्राणित-परिचालित होकर वाणी पा रहा है। वाणी जब उसे मिलती है, तब वह रचना बनती है, और वह दूसरों के मन को भी छुए बिना नहीं रह सकती। मैं यह मानता हूँ कि अगर लेखक अपने प्रति सच्चा है तो वह समझ जाता है कि मेरी कौन-सी चीज़ बनी और कौन-सी नहीं बनी। और जो चीज़ बनी है वह दूसरे आदमी के दिल को भी छुए बिना नहीं रह सकती, इसका उसे विश्वास रहता है। यही वह ताक़त है जिसके बल पर रचनाकार लिखता है। कौन रहता है मेरे सामने जब मैं लिखता हूँ? फ़िलहाल वक़्त तो ऐसा है, विज्ञापन का ज़माना है, अपनी ही चीज़ नज़र आती है, दूसरे की चीज़ दिखलायी ही नहीं पड़ती। अब समालोचक-संपादक भी चले गये जो अच्छी चीज़ पढ़ते थे तो फ़ौरन उसको उठाते थे, उसकी चर्चा करते थे। अब तो चर्चाएँ होतीं नहीं, करवायी जाती हैं। उसका पूरा एक तंत्र है। अब लेखक या तो वह तंत्र सँभाल ले या अपना लिखना-पढ़ना कर ले। या तो रचना का तंत्र देख ले या चर्चा का तंत्र देख ले। दोनों देखना मेरे बस का नहीं है। इसलिए मैं अपना जैसा कुछ उल्टा-सीधा होता है, लिखता-लिखाता रहता हूँ। मैं नहीं जानता कौन पढ़ता है नहीं पढ़ता, बिकता है नहीं बिकता, यहाँ-वहाँ अपने कुछ पढ़नेवाले, चाहनेवाले भी मिल जाते हैं, कभी-कभार वो चिट्ठी भी डाल देते हैं कि आपकी अमुक चीज़ पढ़ी, बहुत अच्छी लगी। लेकिन लिखते वक़्त मेरे सामने उनमें से कोई मौजूद नहीं रहता; लिखते समय मैं अपने भीतर डूब जाता हूँ। बाहर से पाये गये अनुभव-कोष को पुनः सर्जनात्मक स्तर पर पाने के लिए मुझे जिस तरह अपने भीतर डूबना पड़ता है, उसी तरह ठीक शब्द पाने के लिए अपने भीतर के शब्द-कोश को टटोलना पड़ता है। मैं यह मानता हूँ कि किसी शब्द का कोई पर्यायवाची शब्द नहीं होता। कोश बनानेवाले के लिए होता है, रचनाकार के लिए, सर्जक के लिए नहीं होता। हर शब्द की अलग अपनी एक सत्ता होती है। कोई लम्बा होता है, कोई छोटा, कोई दुबला, कोई मोटा, कोई

हल्का, कोई भारी, उनका रंग अलग, उनका घनत्व अलग, उनकी गंध अलग। मैं कैसे मान लूँ कि कोई भी शब्द कहीं भी आकर बैठ जायेगा। बड़ा डेकेडेंट आदमी समझा जाता था फ़्लोबेयर। उसका एक मशहूर फ़िक़रा है 'ले मो जुस्त' — 'द जस्ट वर्ड' यानी ठीक वही शब्द जो चाहिए। 'मदाम बोवरी' के लेखक ने यह बात क्यों कही, मैं नहीं जानता। अपने तईं मैं तो इतना ही जानता हूँ कि ठीक वो शब्द जब तक न मिल जाय, जिसके लिए मन का वह अस्पष्ट सा भाव अपने लिए शब्द ढूँढ़ रहा है, तब तक मेरी तृप्ति नहीं होती। मिल जाता है तो क्लिक कर जाता है एकदम — हाँ अब मिल गया, इसी की तलाश थी! वही बात कहानी-उपन्यास या नाटक या किसी भी रचना के रूपबंध के साथ होती है — शब्द की तरह उसकी भी एक कुछ अस्पष्ट-सी प्रतीति रचनाकार के मन में होती है, जो अपनी ठीक-ठीक अभि-व्यक्ति माँगती है। उसी का दबाव है जो मुझे ठेलता है कि मैं उसे खोजूँ। सबकी तरह मैंने भी दुनिया देखी है, भोगी है, दुख-दर्द सहा है, पढ़ा-लिखा है, और सबको अपने भीतर ले जाकर अपने ढंग से उसकी जुगाली की है। इस तरह अपना एक पूरा मानस-लोक है मेरे भीतर, वही पिण्ड में ब्रह्माण्ड है। उसी में से रचना निकलती है और वह भीतर का लोक जिसका जितना समृद्ध होता है, उसकी चीज़ भी उतनी ही समृद्ध होती है। ब्रह्म के लिए कहा है कि जैसे मकड़ी अपने भीतर की लार से जाले को बुनती है, उसी तरह ब्रह्म ने सृष्टि की। रचनाकार को भी अपनी जगह पर ब्रह्म कहा जाता है। मैं मकड़ी नहीं हूँ और ब्रह्म भी नहीं हूँ, इसलिए ज़्यादा नहीं जानता लेकिन इतना जानता हूँ कि पहले कुछ अपने अन्दर डालो तब भीतर से कुछ सृष्टि कर सकोगे, भीतर डाले बग़ैर नहीं, भीतर और बाहर के संयोग से ही बात पूरी तरह बनती है। प्रेमचंद ने भारतीय समाज की जो पुनर्सृष्टि की है, वह ऐसी ही है।*

---

* यह व्याख्यान मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् द्वारा आयोजित प्रेमचंद जन्मशती समारोह के अवसर पर इन्दौर में दिया गया।

कालजयी प्रेमचंद

जनवरी की एक सर्द शाम मैं अपने दोस्त सईद आरिफ़ी के साथ न्याय मार्ग पर स्थित सुंदर बँगले 'धूप-छाँह' में दाख़िल हुआ तो अमृतराय साहब बाहर बरामदे में बैठे हम दोनों का इन्ताज़ार कर रहे थे। (हमने पहले से टेलीफ़ोन कर दिया था।) अमृतराय साहब अपनी खूबसूरत और लचकदार बातचीत के लिए दूर-दूर तक मशहूर हैं। वो जितनी अच्छी बातचीत करते हैं उतना ही भाषण या इंटरव्यू वग़ैरह से परहेज़ करते हैं। यह उनके व्यक्तित्व का शील और संकोच से भरा हुआ एक अजीब-सा अन्तर्विरोध है। प्रेमचंद की जन्मशती के मौक़े पर उर्दू और हिन्दी के न जाने कितने लेखकों और संपादकों ने उन्हें घेरा, न केवल इस कारण कि वो प्रेमचंद के साहबज़ादे हैं बल्कि इसलिए कि वो खुद भी एक बड़े विचारक हैं, कथाकार हैं, और इन सबसे अलग प्रेमचंद के जीवन से संबद्ध तमाम आलोचनात्मक और गवेषणात्मक बातों पर ईमानदार और निष्पक्ष राय रखते हैं। लेकिन ज़्यादातर लोगों को निराशा ही हाथ लगी। इस सिलसिले में मुझे बहुत जल्द बातचीत का मौक़ा मिल गया, शायद इस कारण से कि उन्होंने कुछ ही दिनों में मेरी लगन और मैंने उनके बड़ेपन को क़रीब से देख लिया। सुहेल अज़ीमाबादी साहब की बीमारी और मौत के दर्मियान यह सफ़र तै हुआ। सुहेल साहब ने जाते-जाते एक एहसान मुझ पर और कर दिया।

हम सब वहीं बरामदे में बैठ गये। अच्छी बातचीत के लिए अच्छे मूड की ज़रूरत होती है। अमृतराय साहब आमतौर पर अच्छे मूड में ही रहते हैं। लेकिन आज की बातचीत ज़रा गंभीर थी इसलिए मैंने उनके चेहरे से उसका असर समेटना चाहा। हमेशा की तरह एक नर्मी और चमक उनके चेहरे पर खेल रही थी। उसने हमेशा उन्हें जवानी से क़रीब किया है। ये हक़ीक़त कल रहे या न रहे

लेकिन उनकी बातचीत की ये ताज़गी और ख़ूबसूरती अटल हक़ीक़त बनी रहेगी। बातचीत का ये आकर्षक ढंग सुननेवाले को बाँध लेता है और जब वो महफ़िल से उठता है तो उसे साफ़ अंदाज़ा हो जाता है कि वो एक ऐसे व्यक्ति से मिलकर उठ रहा है जो नये-पुराने ज्ञान-विज्ञान में ही गहरे डूबा हुआ नहीं बल्कि जिसने अपनी सभ्यता और संस्कृति की अच्छी और स्वस्थ परम्पराओं को भी अपने सीने से लगा रखा है। उनकी बातचीत की इन्हीं विशेषताओं ने मेरे अन्दर विश्वास पैदा कर दिया था और मेरे सवाल मेरे चेहरे पर बेताबी से मचल रहे थे। लेकिन इसके पहले कि ये सवाल मेरे होठों पर फूट पड़ते, खुद अमृतराय साहब बोल पड़े, 'कैसे सवाल करना चाहते हो ?'

इस सवाल ने मुझे जैसे और भी जगा दिया और मैंने कहा — मासिक पत्र 'सुहेल' (गया) प्रेमचंद विशेषांक निकालना चाहता है। उसके सिलसिले में प्रेमचंद के बारे में आपका इंटरव्यू भी चाहता है और ये ज़िम्मेदारी मुझ पर आ पड़ी है। लेकिन मेरा सीमित अध्ययन और कमज़ोर कंधे इस भारी बोझ को उठा न सके इसलिए मुझे अपने दोस्त सईद आरिफ़ी का सहारा लेना पड़ा जिन्होंने प्रेमचंद पर ही शोध किया है। ये एक दोस्त की हैसियत से मेरा बोझ कम करेंगे। हम लोग आपसे कुछ ऐसे विषयों पर बात करना चाहते हैं जो किसी भी बड़े कलाकार के संबंध में विरोध का रूप ग्रहण कर लेते हैं। लेकिन हमारी ये बातचीत बिलकुल अनौपचारिक होगी क्योंकि हमारी कोशिश होगी कि हम उसको घिसे-पिटे ढर्रे से बचाये रक्खें।

अमृत — अरे भाई, ख़ैर तो है ! कौन से सवालात हैं ?

फ़ातमी — बस चंद ऐसी बातें जिनका ताल्लुक़ इस दौर से है, हमारे दौर से, हमारे साहित्य से हमारी नस्ल से, हमारी मौजूदा तहज़ीब से, इंसानियत से, और साथ ही साथ कुछ ग़ैर-इंसानी तत्वों से ...

और इससे पहले कि अमृतराय साहब कुछ बोलते मैं वादे के ख़िलाफ़, सिर्फ़ बातचीत शुरू करने के लिए और माहौल में गर्मी पैदा करने के लिए इस क़िस्म का सवाल कर बैठा जिसके लिए मैं अपने आप को तैयार करके नहीं गया था। मेरा सवाल था — वो कौन-से तत्व थे

या वो कौन-सा वातावरण था जिसने प्रेमचंद को उस युग के तमाम साहित्यकारों के मुक़ाबले नया चिन्तन और नयी हैसियत दी और वो कौन सी ऐसी प्रेरणाएँ थीं जिन्होंने उनको कहानी-उपन्यास जैसी सजीव और यथार्थपरक विधा की ओर मोड़ दिया ?

अमृत — भई, इस सिलसिले में सबसे अहम बात तो ये है कि मुंशीजी एक निम्न-मध्यमवर्गीय घराने से संबंध रखते थे। जैसा कि आप लोगों को मालूम है, उनके पिता एक मामूली डाकमुंशी थे। गाँव में रहना-सहना था। उनकी ज़िन्दगी का वो पहला दौर ही था जिसने उनकी सामाजिक स्थिति पर भी और उनके अनुभवों पर भी गहरा असर डाला। वो एक बहुत ही मामूली खाते-पीते घर में पले-बढ़े, इसलिए मैं यह समझता हूँ कि साधारण जनता से, विशेषतया गाँव से, जो बुनियादी लगाव उनके अन्दर दिखायी देता है, उसके लिए ज़मीन पहले ही से तैयार थी। वही सारे अनुभव उनको हुए। बहुत संपन्न-समृद्ध घरों के लोगों की जो ज़ेहनियत बनती है, जो अनुभव उनको होते हैं और जो बाद में उनकी साहित्य सृष्टि की सामग्री बनते हैं, प्रेमचंद को उनसे सरोकार नहीं रहा और आपको यह भी मालूम होगा कि जल्दी ही उनके पिता का देहान्त हो गया और घर की तमाम ज़िम्मेदारी उनके ऊपर आ गयी जिसकी वजह से उनको अपनी पढ़ाई ख़त्म करके मैट्रिक के बाद नौकरी की चिन्ता करनी पड़ी। इन्टर और बी० ए० जो किया वह तो बाद को नौकरी करते हुए। शायद एम० ए० करने का भी इरादा था, किताबें भी ख़रीदी जा चुकी थीं, फ़ीस भी जमा की जा चुकी थी, लेकिन फिर पता नहीं क्या वजह हो गयी कि वो एम० ए० न कर सके। बहरहाल उनकी पढ़ाई में ये जो रुकावट पड़ी, उसको भी इसी से जोड़ना पड़ेगा कि जिस वर्ग से उनका संबंध था वो बिलकुल निम्न मध्यम-वर्ग था — और ये जो निम्न मध्यमवर्ग है वो हिन्दुस्तान जैसे पराधीन देशों में, स्वाधीनता के संग्राम में हमेशा मेहनतकशों, किसानों-मजदूरों के साथ यों भी कंधे से कंधा मिलाकर चलता है। तो एक तो सबसे बड़ी बात यही है जिसे हम 'क्लास अप्रोच' अर्थात् वर्गीय दृष्टि कह सकते हैं। ये 'क्लास अप्रोच' या

वर्गीय दृष्टि जो थी वो किसी सचेत बौद्धिक आधार पर नहीं थी। ये नहीं समझना चाहिए कि जिस तरह से आज का मार्क्सवादी कहता है कि साहित्य की ओर हमारा रवैया ऐसा होना चाहिए, वैसा होना चाहिए, प्रेमचंद के साथ भी यही बात थी। नहीं, शायद ऐसा नहीं था। यह तो ज़िन्दगी की ज़मीन पर खड़े होकर खुद से पायी गयी एक चेतना थी जिसे हम अवचेतन भी कह सकते हैं। उस जगह पर प्रेमचंद अपने आपको मामूली किसान से जुड़ा हुआ महसूस करते थे। यों तो ये भी देखा गया है कि बहुत बड़े घरों में पले-बढ़े लोग भी अपनी हमदर्दियाँ समाज के निचले हिस्से से जोड़ देते हैं। इसकी सबसे बड़ी मिसाल टॉल्सटॉय की है। लेनिन से पहले के जितने मार्क्सवादी विचारक थे उन्होंने टॉल्सटॉय की तरफ़ देखना भी गवारा नहीं किया और ये कहकर उनको काटते रहे कि ये इतने ऊंचे काउंट घराने का आदमी, ये क्या जाने कि रूसी किसानों को क्या दुख होता है! पहली बार, लेनिन ने टॉल्सटॉय को रूसी क्रान्ति का दर्पण कहकर संबोधित किया। कहने का मतलब कि ऐसा भी होता है। लेकिन मुंशीजी का हाथ खुद ही इस निचले वर्ग से प्रकृत्या जुड़ा हुआ था। अपने घर में ग़रीबी देखी, पास-पड़ोस में देखी, और आप जानते हैं कि बचपन के प्रभाव जितने स्थायी होते हैं उतने दूसरी किसी उम्र के नहीं होते। उनकी तबीयत में भी एक ख़ास तरह की घुलावट थी, जल्दी ही सबके हो लेते थे। गाँव के हर किसी से उनका बड़ा अपनापा था।

फ़ातमी — तो हुज़ूर, ये तो वो पृष्ठभूमि थी जिसने प्रेमचंद को साहित्य के एक यथार्थपरक रवैये की तरफ़ मोड़ दिया लेकिन मैं एक बात जो इससे मिली हुई है आपसे करना चाहता हूँ और वो ये कि यही सारी चीज़ें उन्हें शायरी की तरफ़ क्यों नहीं ले गयीं? क्या इसके पीछे उनका कथा-साहित्य का व्यापक अध्ययन काम कर रहा था या वो प्रकृति से ही कथा-साहित्य की प्रतिभा लेकर आये थे? कहानियाँ और उपन्यास ही क्यों लिखे? नज़ीर अकबराबादी की तरह शायरी करने लगते, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया, आख़िर क्यों?

अमृत — इसका जवाब तो कोई नहीं दे सकता कि कौन कविता

की ओर जायेगा और कौन गद्य की ओर, ये तो अपने-अपने रुझान की बात है, कोई किसी भी विधा की ओर मुड़ सकता है। वो गद्य की ओर झुके तो इससे यही समझना चाहिए कि उनकी नैसर्गिक प्रतिभा उसी ओर थी।

हम चाय पीते रहे। हमारे हाथों में सिगरेटें सुलग रही थीं। अमृतराय साहब ने बीड़ी का बंडल निकाला और सुलगाने लगे। मैं सोचने लगा कि इस खूबसूरत बँगले में रहनेवाले, खद्दर का कुर्ता-पाजामा पहननेवाले आदमी में कितनी सादगी और कितनी वज़ा-दारी है।

दूसरा सवाल मेरे दोस्त ने किया जिससे मेरे सोच का तार टूट गया। सईद आरिफ़ी अपने ठहरे हुए अंदाज़ में बोल रहे थे — ये सच है कि प्रेमचंद ने प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन की सरपरस्ती की लेकिन जिस साल उसकी बुनियाद पड़ी उसी साल वो इस दुनिया से उठ गये और इस आंदोलन से उनका संबंध बस कुछ महीनों का रह पाया। तो क्या आप बता सकते हैं कि इस प्रगतिशील आन्दोलन से उनकी दिलचस्पी किस हद तक थी? उनका जो सामाजिक और साहित्यिक दृष्टिकोण था, वो क्या पूरे तौर पर उन्हें इस आन्दोलन में नज़र आता था? यानी साहित्य के माध्यम से वो जिस समाज-कल्याण और लोकमंगल की कामना करते थे वह क्या उन्हें विश्वास था कि इस आन्दोलन के ज़रिये संभव हो सकेगा?

सवाल अहम था जिसने अमृतराय साहब की चौड़ी पेशानी पर बल डाल दिये और वो सोच में डूब गये, उंगलियों में फँसी हुई बीड़ी को ऐशट्रे में मसला और बोले — कम से कम उन्हें उम्मीद तो यही थी और यही उम्मीद उन्हें इस आन्दोलन के पास ले गयी। ध्यान देने की बात है कि जब उन्हें पहली बार यह सूचना मिली कि इस आन्दोलन की दाग़बेल लंदन में मुल्कराज आनंद, बन्ने भाई (सज्जाद ज़हीर), महमूदुज़्ज़फ़र वग़ैरह नौजवानों के एक पूरे ग्रुप ने डाली है तो उन्होंने 'हंस' के एक संपादकीय में उसका स्वागत किया था। और जब ये लोग लौटकर आये और अप्रैल १९३६ में इसके पहले सम्मेलन की बात उठी और उसकी सदारत करने के लिए

मुंशीजी को आमंत्रित करने बन्ने भाई बनारस पहुँचे तो मुंशीजी ने खुशी-खुशी जाना मंजूर किया। क्यों ? इसलिए कि दोनों इस जगह पर एक थे कि साहित्य का बुनियादी नाता समाज से होता है; मुंशी-जी खुद भी सारी ज़िन्दगी इसी पर अमल करते रहे थे। अब उनको नौजवान लेखकों का एक ग्रुप मिला जो यही करना चाहता था तो उन्हें बड़ी खुशी हुई और वो बड़े उत्साह के साथ सम्मेलन में गये। उसके बाद वह कुछ ही महीने जिन्दा रहे। ज़िन्दा रहते तो उनके और प्रगतिशील आन्दोलन के संबंध की राशि क्या बनती, यह तो भाई आरिफ़ी साहब, कोई ज्योतिषी ही बता सकता है। लेकिन अगर आपका इशारा कुछ उन साहित्यिक प्रवृत्तियों की तरफ़ है जो बाद को उस आन्दोलन में दिखायी दीं तो इस सिलसिले में बस एक बात आपसे कहना चाहूँगा। अगर आप ग़ौर के उनकी सदारती तक़रीर को देखें जो उन्होंने उस लेखक सम्मेलन में की थी तो आप पायेंगे कि एकाध जुमला इस क़िस्म का है जो इशारा करता है कि कहीं पर उनके दिल में थोड़ी-सी शंका उस वैचारिक संकीर्णता को लेकर थी जो बाद को उस आन्दोलन में दिखायी पड़ी और जिसकी तरफ़ से उन्होंने आंदोलन के पुरोधाओं को हल्के से सावधान किया था। जिस जुमले की तरफ़ मैं इशारा कर रहा हूँ वो कुछ इस क़िस्म का है : 'लेखक तो स्वभावतया प्रगतिशील होता है।' मैं इस जुमले से ये मतलब पढ़ता हूँ (और इस वजह से पढ़ सकता हूँ कि बाद के दिनों में मैं भी इस आन्दोलन से जुड़ा रहा हूँ, मैंने उसे पास से देखा है, समझा है) कि बार-बार 'प्रगतिशीलता' का नाम जपना और इस बात को भुला देना, आँख ओट कर जाना, कि जो भी व्यक्ति लिखता है वो कहीं न कहीं देश और समाज का कुछ भला ही करना चाहता है और साहित्य की उस मानवतावादी परंपरा से जुड़ा हुआ है जो प्रगतिशील आन्दोलन से चार हज़ार साल पहले की है, यह कुछ अच्छी बात नहीं है। प्रेमचंद इस तरह शायद ये कहना चाहते थे कि बहुत तंग घेरे मत बनाओ, अपने आन्दोलन को फैलाना चाहते हो तो पहले अपने को फैलाओ और साहित्य की उसी पुरानी मानवतावादी परंपरा से जुड़ो यानी जीवन और साहित्य के उन्हीं मूल्यों से जो उस

महान् साहित्य को अनुप्राणित करते हैं। केवल बौद्धिक चेतना के बल पर महान् साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, भले प्रगतिशीलता का कितना ही राग अलापा गया हो। उल्टे उसमें आगे भटकाव का डर है। और जो कि हुआ भी। प्रगतिशील लेखकों ने समझा कि अगर वो बौद्धिक स्तर पर प्रगतिशील हैं तो इतना काफ़ी है। यह नहीं समझा कि अच्छे साहित्य की सृष्टि के लिए पहले उन जीवन-मूल्यों को जीना ज़रूरी है, निजी अनुभव ज़रूरी है। जो ज़िन्दगी आप जी रहे हैं उसमें से ऐसे जीवन-मूल्य निकलते हैं या नहीं जो सुंदर हैं, श्रेष्ठ हैं, सीने से लगाकर रखने के क़ाबिल हैं। उन पर आपकी नज़र होनी चाहिए। उसके लिए पहली ज़रूरत है ईमानदारी और सच्चाई की। साहित्य को सच्चे अर्थों में समर्पित होना चाहिए। अगर आप सिर्फ़ इंक़लाब की बातें, किसान-मजदूर की बातें कहकर ये समझते हैं कि आप कालजयी साहित्य की रचना कर रहे हैं, तो ये कहीं भटकाव का रास्ता भी हो सकता है। इसीलिए मैं प्रेमचंद के उस वाक्य से ये अर्थ निकालता हूँ, उसके पीछे ये गूँज सुनता हूँ। इस तरह प्रेमचंद का इस आन्दोलन के पास आना, उससे जुड़ना तो बिलकुल स्वाभाविक था, आगे चलकर क्या होता यह बिलकुल अलग बात है। मैं कुछ नहीं कह सकता। हाँ अगर अनुमान से कुछ न कुछ कहना ही पड़े तो मैं कहूँगा कि दोनों ही बातें संभव थीं। यह भी संभव था कि ये आन्दोलन ही कुछ दूसरे ढंग से आगे ढला होता, उसका संस्कार कुछ दूसरे रंग में हुआ होता, वो बाद की संकीर्णताएँ उसके अन्दर न घुसने पातीं क्योंकि प्रेमचंद जैसे व्यक्तित्व का उस पर कुछ भी असर न पड़े यह ज़रा मुशकिल बात थी — और दूसरी तरफ़ यह भी संभव था कि काम निकल जाने के बाद उस आदमी को उठाकर ताक़ पर रख दिया गया होता और मुंशीजी उसका साथ छोड़कर फिर अपनी राह पर अकेले निकल पड़े होते जैसे कि, उदाहरण के लिए, उन्होंने गांधी को छोड़ दिया था।

अमृतराय साहब की बातचीत थमी तो थोड़ी देर के लिए हम सब न जाने क्यों ख़ामोश रहे। शायद मेरे और आरिफ़ी दोनों ही के ज़ेहन में बहुत से छोटे-छोटे सवाल कीड़े की तरह कुलबुला रहे थे

लेकिन इस सवाल को फैलाना मुनासिब न था। मैंने आरिफ़ी के चेहरे पर बहुत सारे सवाल पढ़ लिये लेकिन लॉन में बढ़ते अँधेरे ने मुझे फ़ौरन एक अलग सवाल की तरफ़ मोड़ दिया और मैं तैयार होकर बोल पड़ा — राय साहब, हम लोग एक बात और आपकी ख़िदमत में रखना चाहते हैं। मैं समझता हूँ कि प्रेमचंद के अफ़सानों का सबसे खूबसूरत हिस्सा हिन्दुस्तान के सामाजिक यथार्थ का चित्रण है; ख़ासकर क़स्बों और देहातों का जो चित्रण उन्होंने किया है, वही उनके साहित्य का प्राण है। ऐसा सुंदर चित्रण उस यथार्थ का प्रेमचंद से पहले तो जैसे मिलता ही नहीं, बाद को भी नहीं मिलता। अब ऐसा लगता है कि प्रेमचंद के बाद तमाम कथाकार देहात से कटते जा रहे हैं और हमारा कथा-साहित्य शहर की चहारदीवारी में बंद होकर रह गया है। हिन्दी के बारे में तो मैं यक़ीन के साथ नहीं कह सकता लेकिन उर्दू अफ़साने में ये बात ज़रूर है। ऐसा क्यों? क्या प्रेमचंद जैसे महान् कथाकार का पहले हो जाना इसमें बाधक हो रहा है या आज के दौर की कड़वी सामाजिक सच्चाइयाँ कथाकारों को अपनी ओर नहीं खींचतीं? इससे तो प्रेमचंद की परंपरा मरती हुई दिखायी दे रही है। आपका क्या ख़याल है?

शायद सवाल मामूली था क्योंकि इस सवाल का अमृतराय साहब के चेहरे पर मुझे कोई असर नहीं दिखायी दिया, लेकिन इसके बावजूद वो पल भर सोचते रहे और फिर उनकी सोच बातचीत के साँचे में ढली — मैं समझता हूँ कि एक तो ये बात ख़याल में रखने की है कि गाँव में ज़िन्दगी रोज़-ब-रोज़ ज़्यादा मुशकिल होती गयी और होती जा रही है. और जो लोग शहरों की तरफ़ आ सकते थे आ गये। आख़िरकार आदमी वहाँ की तरफ़ भागेगा जहाँ उसे दो जून रोटी मिलने का सहारा होगा. जो गाँव में धीरे-धीरे ग़ायब होता गया। परिवार बढ़े, खेतियाँ और-और बँटीं, छोटी हुईं, सहकारी खेती के प्रयोग असफल रहे, फिर तमाम-तमाम ज़मीन के झगड़े और किसानों की जो भी लेई-पूंजी थी वो अदालत-कचहरी की नज़र हुई। ऊपर से आबपाशी का कोई इंतज़ाम नहीं। अकसर नहरें और नलकूप सूखे पड़े हैं, और जहाँ पानी है भी वहाँ भी सबको अपने समय से

पानी मिल सके इसकी कोई व्यवस्था नहीं, ढेरों भ्रष्टाचार उसमें, और फिर सब तरफ़ जिसकी लाठी उसकी भैंस का बोलबाला, सोलहो आना अराजकता। ऐसे में कौन वहाँ टिका रह सकता था। कालांतर में ज़मीनें निकलकर बड़े किसानों के हाथों में इकट्ठा होने लगीं और साधारण किसान खेतिहर मज़दूर होने लगे। हालत बराबर बिगड़ती ही गयी और आज तो जैसे चारों तरफ़ डाकुओं और खूनियों का राज है, आये दिन यहाँ-वहाँ क़तल होते हैं जिन्हे बहुत बार पुलिस दर्ज भी नहीं करती। कहने का मतलब ये कि जब गाँव के ठीक विकास की ओर किसी का ध्यान ही नहीं तो जो होना था सो हुआ। ध्यान होता तो विशेषज्ञों द्वारा सुझाये गये भूमि सुधार क़ायदे से लागू किये जाते, किसानों के रहने के लिए योजनाबद्ध ढंग से मकान खड़े किये जाते, खेती के लिए किसानों को बहुत कम सूद पर लंबी मीयाद के क़र्ज़े दिये जाते — मुझे पता है कि इन मदों में रुपया काफ़ी ख़र्च होता है लेकिन ज़रा पता तो लगाइए उसमें से कितना रुपया सचमुच किसानों के पास पहुँचा! — ढंग की डिस्पेंसरियाँ और अस्पताल खोले जाते जिनमें दवाएँ भी होतीं और डाक्टर भी। हाँ, कहने के लिए स्कूल-कालेज ज़रूर काफ़ी खुले मगर उनमें भी कुछ कम ढोल में पोल नहीं, कहना मुशकिल है कि उनसे किसी का क्या भला होता है। मनोरंजन के भी कुछ साधन वहाँ पर रखने ही थे, अगर उन गाँवों को आबाद रखना था, जो कि शायद इस कृषि-प्रधान देश की पहली ज़रूरत थी। मगर कौन इस सबकी चिन्ता करता. देश के राजपुरुषों को तो बस अपनी गद्दी-कुर्सी की चिन्ता रहती है और उसके लिए शायद दो-चार बरस में कभी इस चुनाव और कभी उस चुनाव के सिलसिले में एक बार शकल दिखा आना काफ़ी है, क्योंकि किसान सबसे बड़ा वोट-बैंक है! ऐसे में दोस्त, वही कुछ हो सकता था जो कि हुआ — गाँव उजड़ते चले जा रहे हैं। फिर बताइए लोग कैसे शहरों की तरफ़ न भागते, और जो एक बार यहाँ आ गया वो फिर कहाँ देहात लौटने का नाम लेता है जब कि उसकी हालत ये थी और और भी दिनोंदिन गिरती ही जा रही थी। ताहम ये नहीं कहा जा सकता कि हमारे लिखनेवालों का नाता गाँवों से बिलकुल

ही टूट गया। उर्दू अफ़सानों के बारे में मैं ज्यादा कुछ नहीं कह सकता। हो सकता है कि आपकी बात काफ़ी हद तक सही हो और उर्दू में गाँव की ज़िन्दगी के बारे में अफ़साने एक सिरे से न लिखे जा रहे हों, गो बात शायद ऐसी नहीं है। और यों देखिए तो जहाँ तक मैं जानता हूँ, उर्दू का नाता शुरू से ही देहातों से बहुत कम रहा है; वो तो अपनी इब्तदा से ही शहरों की ज़बान रही है। जहाँ तक हिंदी की बात है, उसका गाँवों से पुराना रिश्ता रहा है और आज भी हिंदी में गांव की ज़िदगी के बारे में कहानियाँ लिखी जा रही हैं, उपन्यास लिखे जा रहे हैं, भले कम हों और उनमें गाँव के आज के यथार्थ की वैसी पकड़ न हो जैसी प्रेमचंद के यहाँ उनके वक़्त के गाँव के यथार्थ की मिलती है। लेकिन ये कहना शायद सही न होगा कि प्रेमचंद उसमें बाधक हो रहा है। सच तो ये है कि आज के लिखनेवालों को उससे मदद मिलनी चाहिए क्योंकि प्रेमचंद पहले ही उस ज़मीन को तोड़ चुका है और उसके बनाये हुए रास्ते और पगडंडियाँ मौजूद हैं। फिर ये ख़याल किसी को क्यों सताये कि वो उस रास्ते पर नहीं चल सकता क्योंकि प्रेमचंद जैसा महान् लेखक वहाँ पर पहले से खड़ा है। खड़ा रहे. उससे क्या फ़र्क़ पड़ता है। महान् लेखक तो सभी दिशाओं में खड़े हैं, कुछ भी तो ऐसा नहीं बचा जिस पर उन्होंने न लिखा हो और अच्छे से अच्छा न लिखा हो। लेकिन क्या इस वजह से कोई अपना क़लम तोड़कर फेंक देता है? विषय तो आदिकाल से सब वही-वही रहे हैं, सार्थक-समर्थ रचना का हस्ताक्षर तो लेखक की मौलिक दृष्टि में होता है। सर्जनात्मक प्रेरणा का उत्स भी उसी में है। और जहाँ तक देहात की ज़िन्दगी को लेकर लिखने की बात है तो उसमें तो और भी कोई मुश्किल न होनी चाहिए क्योंकि आज का देहात वो नहीं है जो मुंशीजी के वक़्त में था। उस देहात के बदले हुए रंग और बदलते हुए मानव संबंधों को अगर आज भी कोई कथाकार उजागर कर सके तो उनमें प्रेमचंद कैसे बाधक हो सकता है? ये ठीक है कि वो प्रेमचंद की परंपरा में लिखी हुई चीज़ होगी लेकिन एक तो परंपरा कोई घबराने की चीज़ नहीं है और दो, अगर कोई उससे बचना भी चाहे तो कैसे बच सकता

है। इसलिए वो दलील तो मेरी समझ में नहीं आती। अगर आज के कथाकार नये गाँव का रूपायन प्रेमचंद के जैसा नहीं कर पा रहे हैं तो अलावा इसके कि गाँव से उनका संबंध बहुत कुछ टूट गया है, उसका एक बड़ा कारण शायद ये भी है कि एक समय नयी हिन्दी कहानी में सामाजिक यथार्थ के चित्रण को थोड़ा छोटा करके देखा गया और उसकी जगह कमोबेश व्यक्तिवादी रंग उभरे और उसकी दलील ये दी गयी कि इससे कहानी में ज़्यादा मनोवैज्ञानिकता आती है जब कि समाज की बातें करने से उसमें हल्कापन पैदा होता है! इस नयी कथा-दृष्टि के पीछे अधिकतर पश्चिमी कथाकारों का प्रभाव काम कर रहा था। हमारे नये कथाकारों के ध्यान से ये बात हट ही गयी कि पश्चिम के रुझानों का, साहित्यिक प्रवृत्तियों का, अंधानुकरण करना ठीक नहीं क्योंकि पश्चिम की जीवन-स्थितियाँ, समस्याएँ बिलकुल दूसरी हैं। सच तो ये है कि वहाँ हमारे जैसे गाँव कहीं हैं ही नहीं, अमरीका और योरप का आदमी क्या जाने कि गाँव किस चिड़िया का नाम है — जिस चीज को वो गाँव कहता है वो हमारे अधिकांश नगरों से कहीं ज़्यादा उन्नत और साधन-संपन्न सुविधा-संपन्न हैं। उनकी ज़िन्दगी का नक़्शा ही दूसरा है। उनकी सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र उनके बड़े-बड़े नगर हैं। वही उनकी ज़िन्दगी है, उसी में से उनका साहित्य निकलता है। हम उनकी नक़ल करने चलेंगे तो धोखा खायेंगे। यहाँ की फ़िज़ा दूसरी है, तक़ाज़े दूसरे हैं, आपको देखना पड़ेगा कि आपका देश क्या है, आप के लोग कहाँ खड़े हैं, उनकी चेतना कहाँ खड़ी है। इसलिए अगर आपने आँख मूँदकर उनकी नक़ल शुरू कर दी, ये सोचकर कि अमुक देश में ऐसा लिखा जा रहा है इसलिए हम भी वैसा ही लिखेंगे, तो मात खा जायेंगे। ... पश्चिम के इस असर को मैं मोटे रूप में व्यक्तिवाद के रंग का नाम देना चाहूँगा। जिसके यहाँ ये रंग जितना ही गहरा हुआ उसी अनुपात में रचनाकार का सामाजिक सरोकार कम हुआ। फिर गाँव के बदलते हुए सामाजिक यथार्थ को पास से देखने-समझने का धीरज कितनों के पास था जो उसको रूपायित करते।

मैं भी अमृतराय साहब की इन गहरे सोच में डूबी हुई बातों की धारा में बहने लगा था और मैंने जैसे उन्हीं की बात को पूरा करते हुए कहा — जी हाँ, इसमें कोई शक नहीं कि पश्चिम की अंधी पूजा ने हमारे सोच-विचार को और हमारे साहित्य को ख़राब किया है, हमको समाज से और ख़ास करके गाँव से काटकर रख दिया है। मैंने ये सवाल इस वजह से किया था कि हम जानते हैं कि गाँव की फ़िज़ा अब वो नहीं रही जो प्रेमचंद के वक़्त थी। उस बदली हुई और बदलती हुई फ़िज़ा को पकड़ने की कोशिश न करके हमारे ये कथाकार कहते हैं कि गाँव में अब रचना के लिए हमको विषय नहीं मिलते इसलिए हम व्यक्तिवाद की तरफ़ बढ़े हैं जब कि, जैसा आप फ़रमाते हैं, असलियत कुछ और है। सच तो ये है कि हमारा कथाकार अगर गाँव की तरफ़ बढ़े तो उसे वहाँ की ज़िन्दगी में तमाम ऐसी बातें मिलेंगी जो सच्चे अर्थों में उसकी कथा-सामग्री हैं।

तभी आरिफ़ी ने भी अपनी एक बात इसी में जोड़ी और कहा — इस तरह की कहानियाँ कुछ तो प्रगतिशील कहानियों के विरोध में भी लिखी गयीं, ये अलग बात है कि इस प्रसंग में कुछ अच्छी कहानियाँ भी सामने आयीं।

आरिफ़ी की बात ठीक थी लेकिन मुझे कुछ अधूरी-सी लगी, इसलिए मैंने कहा — चूँकि प्रेमचंद और उनके बाद के और लोगों ने इस तरह की कहानियाँ लिखीं और बहुत कामयाबी के साथ लिखीं और लोगों ने उनको बहुत पसंद भी किया तो ज़ाहिर है उसका विरोध भी कुछ तो होना ही था ....

तभी अमृतराय साहब ने बीच में ही बड़ी साफ़गोई के साथ एक ऐसी बात कही जिसने हमें थोड़ा-सा चौंका दिया — कुछ तो विरोध, मेरा ख़याल है, इसलिए भी हुआ होगा कि प्रगतिशील कहानी के नाम पर पोच कहानियाँ भी कम नहीं लिखी गयीं, बिलकुल सपाट, सतही कहानियाँ जिनके पीछे न तो रचनाकार का अपना अनुभव था और न अपना सोच।

मैंने कहा — आपने बहुत सही फ़रमाया। यक़ीनन् कुछ वजह ये भी रही होगी। जो हो, कुछ तो बिलकुल अलग तरह की कहानी

लिखने का ख़याल, कुछ पश्चिम की नक़ल; और कुछ अपने निजी अनुभव, सबने मिलकर कहानी को गुंजलक तो बनाया लेकिन कुछ अच्छी चीज़ें भी दीं।

अमृतराय साहब बोले — इसमें क्या शक।

बात ने बहुत अच्छा रंग पकड़ लिया था लेकिन मुझे और सईद आरिफ़ी दोनों को ये ख़याल पैदा हुआ कि बातचीत ज़्यादा लंबी हो रही है। यही नहीं, बातचीत सीधे-सीधे प्रेमचंद के बारे में न होकर कहानी की विधा की ओर बढ़ती जा रही है। इसलिए ज़रूरी था कि बात का रुख़ बदला जाय, और आरिफ़ी ने कहा — राय साहब, हर बड़े लेखक और कलाकार की तरह प्रेमचंद के सिलसिले में भी ख़ासे विरोध हैं। सभी पूर्वग्रहों को परे रखकर यह बात स्वीकार कर लेने की है कि प्रेमचंद जितने बड़े उर्दू के लेखक थे उतने ही बड़े हिन्दी के भी। लिहाज़ा ऐसे में उनको किसी ख़ास चौखटे में बन्द करना बहुत ही ग़लत होगा। लेकिन फिर भी कुछ लोगों का कहना है कि चूँकि उन्होंने उर्दू में लिखना शुरू किया इसलिए वो बुनियादी तौर पर उर्दू के लेखक थे। इसके विपरीत कुछ लोग कहते हैं कि उन्होंने हिन्दी में ज़्यादा लिखा और बाद में तो वो हिन्दी में ही लिखने लगे, इसलिए वो ख़ालिस हिन्दी के लेखक थे। इस तरह की बातें आपके सामने भी आयी होंगी। मेरे नज़दीक तो ये कोई बहसतलब मसला नहीं है लेकिन फिर भी अगर मैं आपसे ये सवाल करूँ कि आप उन्हें किस तरफ़ ज़्यादा झुका हुआ महसूस करते हैं, चूँकि आप दोनों ज़बानों से अच्छी तरह वाक़िफ़ हैं और दोनों ज़बानों में प्रेमचंद की क्या हैसियत है इससे भी वाक़िफ़ हैं, इसलिए आपको इस सवाल से ज़्यादा परीशानी न होगी। आप उन्हें स्वाभाविक रूप से किस भाषा का लेखक समझते हैं?

अमृतराय साहब ने कहा — अगर ऐसी मिसाल हमको मिलती है कि एक लेखक दो भाषाओं में लिखता है तो इसमें हर्ज क्या है? इसमें बहस की गुंजाइश कहाँ पैदा होती है? आप खुद जानते हैं कि मुंशीजी की शिक्षा-दीक्षा कायस्थ माहौल में यानी अरबी-फ़ारसी के माहौल में हुई, मौलवी साहब की चिलम भरके, उनके क़दमों में बैठकर हुई। एक

मानी में ये कहा जा सकता है कि उर्दू शायद उनकी पहली ज़बान थी, बाद को वो हिन्दी में भी लिखने लगे। सन् २४ तक की उनकी किताबों के पहले मसविदे उर्दू में मिलते हैं, उसके बाद उनके उपन्यास, उनकी कहानियाँ वग़ैरह सब मूल हिन्दी में लिखी जाने लगीं जिनके अनुवाद उन्होंने बाद में खुद किये या दूसरों से करवाये। ये तो एक आनुषंगिक बात है कि पहले उन्होंने किस भाषा में लिखा। इसलिए मेरी समझ में तो ये एक निरर्थक विवाद है कि वो किस भाषा के लेखक थे। उन्हें दोनों भाषाओं पर अधिकार था, उर्दू पर ज़्यादा, हिन्दी तो उन्होंने बाद में अपनी बनायी, शुरू-शुरू में तो कुछ ख़ास आती भी न थी। सन् १५ या १६ के अपने एक ख़त में उन्होंने लिखा भी है कि कानपुर के हिन्दी दैनिक 'प्रताप' ने अपने विजयदशमी अंक के लिए मुझसे कहानी माँगी है; मुझे हिन्दी तो ठीक से आती भी नहीं, यों ही क़लम तोड़-मोड़ दिया है। लेकिन इसके बाद वो हिन्दी में आये और लिखा और खूब लिखा। अब सवाल पैदा होता है कि वो हिन्दी की तरफ़ आये ही क्यों ? अब इसका तो मेरे पास कोई पक्का जवाब नहीं, अनुमान ही किया जा सकता है। मुमकिन है किसी बात से उनकी दिलशिकनी हुई हो जो उनके क़लम से यह जुमला निकला कि 'उर्दू से किस हिन्दू को फ़ैज़ पहुँचा है जो मुझी को पहुँचेगा।' हमारे पास ये जानने का कोई साधन नहीं कि यह जुमला उनके क़लम से निकला तो क्यों निकला और कहाँ से आया। एक बात जो सरीहन् नज़र आती है वो ये है कि उर्दू में सर्दबाज़ारी थी और हिन्दी में गर्मबाज़ारी थी। उर्दू में प्रेम-पचीसी, प्रेम बत्तीसी और प्रेम चालीसी के प्रकाशन के लिए प्रेमचंद ने खुद अपनी जेब से पैसे ख़र्च किये और हिन्दी में प्रकाशक उन्हें घेरे रहते थे और घर पर आकर पैसे दे जाते थे। ज़ाहिर है कि आदमी उसी तरफ़ जायेगा जहाँ उसके चाहनेवाले ज़्यादा हों। लिहाज़ा ये तो एक फ़िज़ूल की छेड़ी हुई बहस है और शायद इस वजह से छेड़ी गयी है कि ऐसी मिसालें शायद दुनिया के पर्दे पर मुशकिल से मिलें कि एक आदमी बयकवक़्त दो ज़बानों में बादशाह की हैसियत रखता हो। ताहम मैं तो समझता हूँ कि यह एक बिल-

कुल बेकार बहस है कि वो उर्दू और हिन्दी में से किस भाषा के ज़्यादा बड़े लेखक हैं।

मैं जानता था कि ये सवाल ठीक नहीं है ताहम हमने पूछा क्योंकि हम चाहते थे कि उन दुर्बुद्धिपूर्ण लोगों तक अमृतराय साहब का जवाब पहुंच जाये जो इस तरह की बातें उठाते हैं। इसी सिलसिले में फिर मैंने सोचा कि लगे हाथ वो एक सवाल और कर लिया जाय जो इन दिनों प्रगतिशीलों और उनके विरोधी लेखकों के बीच एक झगड़े का विषय बना हुआ है यानी कि प्रेमचंद में सांप्रदायिकता थी या नहीं ? लेकिन सीधे-सीधे सवाल करने की हिम्मत न पड़ी इसलिए उसको सजाकर पेश करने का दुःसाहस किया — ये सच है कि प्रेमचंद ने मौलवी साहब के क़दमों में बैठकर फ़ारसी पढ़ी और एक ख़ास तरह के सांस्कृतिक परिवेश में परवरिश पायी लेकिन ये भी सच है कि अपने आरम्भिक दिनों में वो एक ख़ास क़िस्म की धार्मिक व्यवस्था से जुड़े रहे। अपने लिखने की शुरूआत उर्दू में करने के बावजूद जब उन्हें उससे ठीक 'रिटर्न' नहीं मिला तो वो उर्दू के बारे में एक कड़वी बात कहकर हिन्दी की ओर मुड़ गये। उनकी दोस्ती भी ऐसे ही लोगों से ज़्यादा थी जो हिन्दू थे। मसलन् मुंशी दयानरायन निगम, प्यारेलाल शाकिर, नौबतराय नज़र, फ़िराक़ गोरखपुरी और बाद में बनारसीदास चतुर्वेदी, जैनेन्द्रकुमार वग़ैरह। चतुरसेन शास्त्री ने जब 'इस्लाम का विषबृक्ष' लिखा तो उन्होंने ऐसी ज़हरीली किताब के बारे में खुद कुछ नहीं लिखा बल्कि अपने दोस्तों से लिखवाने की कोशिश की। ये सारी बातें बहुत मामूली हैं लेकिन हर तरफ़ हर तरह के लोग होते हैं। कुछ थोड़े से कमअक़्ल लोगों ने इन्हीं छोटी-छोटी बातों को पकड़कर उनके बारे में ये कहा कि वो हज़ार तरक़्क़ीपसंद यानी प्रगतिशील रहे हों लेकिन बुनियादी तौर पर वो हिन्दू थे और उनके अंदर हिन्दू साम्प्रदायिकता भी थी। प्रेमचंद जैसे मानवहितैषी, सिद्धान्तनिष्ठ और पढ़े-लिखे आदमी के बारे में ऐसी बात क्योंकर कही जा सकती है लेकिन इसी आधार पर इन दिनों प्रेमचंद के बारे में ख़ासी बहस चल रही है। कुछ तो पत्र-पत्रिकाओं को अपना पेट भरने के

लिए सनसनीख़ेज़ मसाला चाहिए इसलिए इस चीज़ को वो और भी उछालते हैं। ये सब देखते हुए मैं इस मौक़े पर इसके बारे में आपकी राय जानना चाहता हूँ — इस विश्वास के साथ कि आप बिलकुल निष्पक्ष होकर अपनी राय इस सिलसिले में दे सकेंगे, जैसी कोई दूसरा आदमी नही दे सकता।

मेरी बात ख़त्म हुई। मैंने उनके चेहरे को ग़ौर से देखा। उनके नर्म, गोरे-चिट्टे चेहरे पर सुर्ख़ी दौड़ गयी। ये सुर्ख़ी ख़ुशी की न थी, गुस्से की थी जिसमें किसी क़दर हैरत और अफ़सोस का रंग भी मिला हुआ था। अमृतराय साहब निहायत साफ़गो इंसान हैं, बहुत ही स्पष्टभाषी। मैं उनसे जब भी मिला और प्रेमचंद के बारे में उनसे मेरी कोई बात हुई, मैंने उनकी इस निष्पक्षता की एक से एक अनूठी शक्ल देखी है। लेकिन आज जो शक्ल देखी वो सबसे ही ज़्यादा दिल-चस्प थी। उन्होंने कहा — मैं नहीं समझता कि प्रेमचंद ने अपनी ज़िन्दगी में साम्प्रदायिक विद्वेष के साथ कभी किसी तरह का सम-झौता किया। लेकिन अगर उनके ज़ेहन में या उनके लिखने में हिन्दू तत्व पाये जाते हैं तो इसमें ताज्जुब की क्या बात है ? जो आदमी एक हिन्दू परिवार में पैदा हुआ, हिन्दू सांस्कृतिक परिवेश में पला-बढ़ा उसके लिए दूसरा कुछ क्या मुमकिन है ? फिर, मैं आपसे पूछता हूँ, क्या ये कोई गुनाह है ? आपने मुझसे जिस तरह ठंडे मन से निष्पक्ष होकर इस मसले पर विचार करने के लिए कहा है, उसी तरह ठंडे मन से निष्पक्ष होकर आप भी इस मसले पर विचार कीजिए और मुझे बताइए, क्या आपको ऐसा कोई मुसलमान लेखक मिला है जिसके लिखने में उसके मुसलिम संस्कारों की कहीं कोई गंध नहीं मिली ? तो फिर प्रेमचंद से ही क्यों इसके लिए जवाब तलब किया जाता है ? ये तो इंसाफ़ की बात नहीं। सच तो ये है कि ऐसा होना ही स्वाभाविक है, इसमें न तो कोई बुराई है और न गुनाह। हाँ, अगर ये चीज़ एक तरफ़ मुसलिम-विद्वेष (और दूसरी तरफ़ हिन्दू-विद्वेष) की शक्ल अख़्तियार कर ले तब इसको ज़रूर गुनाह कहना पड़ेगा जिसके लिए सबसे जवाब तलब किया जा

सकता है। इस फ़र्क़ को आप अच्छी तरह अपने दिमाग़ में बैठा लीजिए और तब मुंशीजी को मुजरिम के कठघरे में खड़ा कीजिए। मैं ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि जो लोग मुंशीजी पर ये इल्ज़ाम लगा रहे हैं, वो खुद अपने गरेबान में मुँह डालकर देखें कि उनमें बहैसियत मुसलमान के हिन्दुओं के ख़िलाफ़ सांप्रदायिक विद्वेष है या नहीं ? है और यक़ीनन् है तभी उन्हें हर जगह वही चीज़ नज़र आती है। अगर ये सांप्रदायिक विद्वेष उनके अन्दर न होता तो वो इस चीज़ को बड़ी आसानी से समझ सकते थे कि वो दौर किस क़दर सख़्त हिन्दू-मुसलमान दुश्मनी का रहा है। जिस तरह से उस आदमी ने उस ज़माने में आर्यसमाज के शुद्धि आन्दोलन के खिलाफ़ अपना वो आग की तरह दहकता हुआ लेख 'क़हतुर्रिजाल' (मनुष्यता का अकाल) लिखा उसके लिए बहुत बड़ा जिगरा चाहिए। ... उसी ज़माने में उन्होंने अपना 'कर्बला' नाटक भी लिखा था जिसमें उन्होंने एक पुरानी रवायत के आधार पर कुछ हिन्दुओं को (जिन्हें उसी रवायत में 'हुसैनी हिन्दू' कहा गया है) हज़रत हुसैन के साथ कर्बला के मैदान में शहीद होते हुए दिखाया गया है। ज़ाहिर है कि उसका मक़सद भी हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच दोस्ती पैदा करना, उन्हें एक दूसरे के पास लाना ही हो सकता है। आप पूछते क्यों नहीं उन हज़रात से कि इन बातों का उनके पास क्या जवाब है ? कितने अफ़सोस की बात है कि मुसलमानों के विरोध के कारण वो नाटक उर्दू में नहीं छप सका। ये अगर उनका मज़हबी तास्सुब (साम्प्रदायिकता) नहीं तो और क्या चीज़ थी ? इसलिए मेरा ख़याल है प्रेमचंद पर हिन्दू सांप्रदायिकता का इल्ज़ाम लगाने के पहले ऐसे लोगों की मुसलिम सांप्रदायिकता की अच्छी तरह छानबीन कर लेना मुनासिब होगा। किसी पर कोई जुर्म आयद करने के पहले अपना दामन देख लेना अच्छा होता है। ... अब रही दोस्तों की बात तो भई मैं नहीं कह सकता कि किसके दोस्त किस तरह बनते हैं, लेकिन इतना तो मैं ज़रूर कह सकता हूँ कि मुसलमानों में भी उनके दोस्त कम नहीं थे, जिन्होंने बाद को मुंशीजी को बड़ी मुहब्बत के साथ याद भी किया है, जो कि मुमकिन है आपने देखा भी हो। मिसाल के लिए

उनके बेहतरीन दोस्तों में इम्तयाज़ अली ताज थे, ख्वाजा गुलामुस्सैयदैन थे, अशफ़ाक़ हुसैन थे, अख्तर हुसैन रायपुरी थे, बंबई के एक ज़ियाउद्दीन बर्नी थे जो बाद में पाकिस्तान चले गये और वहाँ से उन्होंने यादगार के लिए प्रेमचंद की एक तसवीर मुझसे माँगी और मैंने उनकी मुहब्बत का एहतराम करते हुए मुंशीजी की बंबई के ज़माने की एक अकेली तसवीर जो मेरे पास थी अपने फ्रेम से निकालकर उनको भेज दी। लखनऊ में 'माधुरी' के दफ़्तर में चित्रकार अब्दुल हकीम साहब थे — उनसे तो हमारा बहुत ही घरोपा था। बहुत ही नेक आदमी थे और हम सब बच्चों के लिए तरह-तरह की तसवीरें बनाकर दिया करते थे। अपनी आख़िरी बीमारी में मुंशीजी जब लखनऊ इलाज के लिए गये थे तब लगभग एक महीना हकीम साहब के ही मेहमान रहे और हकीम साहब ने उनकी तीमारदारी में दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। इसी तरह और भी तमाम लोग हैं, सबके नाम गिनाकर क्या होगा। जिन्हें अपनी उल्टी-सीधी हाँकनी है वो तो हाँकते ही रहेंगे। ... आपने एक सवाल चतुरसेन शास्त्री की किताब 'इस्लाम का विषवृक्ष' की आलोचना का उठाया है, कि मुंशीजी ने खुद उसकी आलोचना न करके अपने किसी दोस्त से करवायी। तो ये भी कोई ऐसी बात नहीं जो समझी न जा सके। निजी संबंधों के कारण आदमी बहुत बार खुद सामने आकर चोट करने से बचना चाहता है। मैं समझता हूँ कुछ इसी तरह का संकोच मुंशीजी को भी हुआ होगा। इसलिए यहाँ देखने की चीज़ ये नहीं है कि मुंशीजी ने खुद उसके विरोध में लिखा या किसी से लिखवाया, बल्कि ये कि उन्होंने न सिर्फ़ उस किताब को पसंद नहीं किया — जो कि उन्हें करना चाहिए था अगर उनके अंदर वो मुसलिम-विद्वेष होता जिसका इल्ज़ाम कुछ हज़रात उन पर लगाते हैं — बल्कि इतना नापसंद किया, इतना ग़लत समझा, कि अपने सब निजी संबंधों के बावजूद उन्होंने उसका विरोध करना ज़रूरी समझा और उनकी प्रेरणा से किसी ने उसकी कड़ी आलोचना की जो मुंशीजी के अपने पत्र में छपी।

मुंशीजी के बारे में इस तरह की ग़लत बातें फैलानेवाले लोगों को दिया गया अमृतराय साहब का ये खरा जवाब सुनकर हमें बहुत अच्छा लगा। और अब आरिफ़ी ने एक और बहुत अच्छा सवाल अमृतराय साहब के सामने रखा — कहानी प्रेमचंद से शुरू होकर आज जिस स्टेज पर आ पहुँची है, उसको पढ़ने से अंदाज़ा होता है कि ये सारी कहानियाँ प्रेमचंद की कहानियों से गहरा विरोध रखती हैं। आज की कहानियों में आज की ज़िन्दगी की जो हंगामियत, अफ़रा-तफ़री, बेचैनी दिखायी देती है, उन सब को देखकर, पढ़कर डर-सा लगने लगता है। लेकिन क्या किया जाय, कुछ तो ये सब हमारी ज़िन्दगी की देन है, कुछ उल्टे-सीधे प्रयोगों ने हमें कहाँ से कहाँ पहुंचा दिया है, लेकिन इस दौर में भी अच्छी कहानियाँ लिखी गयी हैं। इन प्रयोगों के ज़रिये कहानी की विधा आज जिस स्टेज पर आ पहुँची है उसकी शिल्पगत बारीकियों को देखते हुए हम ऐसा महसूस करते हैं कि कहानी का ये दौर प्रेमचंद की कहानियों से बिलकुल अलग है और उसे अलग होना भी चाहिए क्योंकि प्रेमचंद की कहानियाँ बीसवीं सदी के शुरू में लिखी गयीं और आज की कहानियाँ इस सदी के अंत में लिखी जा रही हैं। तो ऐसे दौर में हम अगर प्रेमचंद को पढ़ें तो उसकी क्या अहमियत होगी यानी प्रेमचंद का अध्ययन हमें क्या देगा ? या इसको इस तरह से कहा जाये कि उर्दू या हिन्दी कहानी से प्रेमचंद का क्या संबंध रह गया है ?

अमृतराय साहब ने कहा — उर्दू कहानी के बारे में तो मैं ज़्यादा नहीं जानता लेकिन हिन्दी कहानियाँ जो आजकल लिखी जा रही हैं उनकी रोशनी में ये कहना कि वो प्रेमचंद की कहानियों से बिलकुल अलग जा पड़ी हैं, बहुत सही नहीं है। सभी तरह के प्रयोग हिन्दी में भी हो रहे हैं लेकिन समाज से लगाव का जो बुनियादी पहलू प्रेमचंद की कहानियों में मिलता है, वैसी ही कहानियाँ आज भी हिन्दी में ज़्यादा लिखी जा रही हैं। हिन्दी में प्रेमचंद की लोकप्रियता या लोक-मान्यता ज़रा भी कम नहीं हुई है। कहानीकार की हैसियत से वो कल जितना पसंद किये जाते थे, आज उससे कुछ ज़्यादा ही पसंद किये जाते हैं। ये सच है कि ज़िन्दगी के तक़ाजे बदल गये हैं लेकिन क्या आदमी

बुनियादी तौर पर बदल गया है ? एक बेहतर ज़िन्दगी या बेहतर मानव-मूल्यों की उसकी तलाश बदल गयी है ? अगर वो इस तरह से बदल जाया करती तो मुंशीजी की बात छोड़िए, हम उन लोगों की किताबें पूरे लगाव के साथ क्यों पढ़ते हैं जो आज से हज़ार और दो हज़ार और तीन हज़ार बरस पहले गुज़रे हैं ? इसलिए कि हमको उनमें कुछ मिलता है । कालिदास, वाल्मीकि या होमर-शेक्सपियर को पढ़ते हैं तो क्यों पढ़ते हैं ? इसलिए कि उन सबमें हमें एक मानवतावादी परम्परा मिलती है । ये परम्परा हर दौर में हर जगह बराबर अपना काम करती रहती है । किसी भी दौर के साहित्य को सार्थक होने के लिए, कालजयी होने के लिए, इस परम्परा से जुड़ना पड़ेगा । अगर वो नहीं जुड़ता तो कहीं पर वो सुंदरतर मानव जीवन और सुंदरतर मानव-मूल्यों की उस सनातन खोज से कट जाता है जो आदमी पहले दिन से करता आ रहा है और क़यामत के दिन तक करता रहेगा और जिसने ही सारी कला और सारे साहित्य और सारे ज्ञान-विज्ञान को एक धागे में पिरो रखा है । आदमी आज भी वही है, उसकी सारी भावनाएँ वही हैं, वही संबंध हैं, बुनियादी तौर पर वही सारे तक़ाज़े हैं । जो इन सारी चीज़ों में जितनी ही गहराई से उतरकर उनसे जुड़ता है, उतना ही कालजयी उसका लेखन होता है और जो जितनी कमज़ोरी से पेश करता है वो उतना ही वक़्त के साथ कमज़ोर होता जाता है । निर्णायक चीज़ स्वतः शिल्प नहीं बल्कि उस शिल्प के माध्यम से ध्वनित होनेवाला जीवन-सत्य होता है । मुद्दे की बात इतनी ही है । अगर ये बात रचनाकार के मन में बिना किसी उलझाव के स्पष्ट हो तो फिर वो अपनी बात कहने के लिए अर्थात् अपने उस जीवन-सत्य को (जिसका साक्ष्य वो अपने भीतर पाता है) संप्रेषित करने के लिए शिल्प का कुछ भी प्रयोग करने को स्वतन्त्र है । (यही स्वाभाविक बात है और सच तो ये है कि दूसरा कुछ संभव भी नहीं, जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ तो केवल पुनरावृत्ति मिलेगी ।) दूर क्यों जाइए, खुद प्रेमचंद के यहाँ 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' और 'शिकारी राजकुमार' से लेकर 'कफ़न' और 'पूस की रात' और 'ईदगाह' और 'बड़े भाई साहब', 'मनोवृत्ति' और

'मुफ़्त का यश' तक काफ़ी शिल्पगत वैविध्य देखने में आता है। इस थोड़ी-सी चर्चा के बाद हम फिर प्रेमचंद की प्रासंगिकता-वाले प्रश्न पर विचार करते हैं तो, और बातों को तो जाने ही दीजिए, हिन्दुस्तान तो अभी कुछ ख़ास बदला भी नहीं है, सारे सामाजिक प्रश्न अभी वैसे ही हैं, अगर कुछ और पेचीदा नहीं हो गये हैं, जैसे कि प्रेमचंद के समय में थे। जिस सँवरे हुए हिन्दुस्तान की तसवीर वो देख रहे थे, वो तो अब भी बहुत दूर है — जैसा समाज वो चाहते थे. वो बन कहाँ पाया, बल्कि शायद और बिगड़ता ही जा रहा है। ऐसी हालत में प्रेमचंद के अप्रासंगिक हो जाने का सवाल ही कहाँ पैदा होता है। इसलिए शायद ये कहना ग़लत न होगा कि जब तक हिन्दुस्तान एक सिरे से बदल नहीं जाता तब तक हम प्रेमचंद से अलग नहीं हो सकते। और उस तरह का बदलाव आने में अभी पता नहीं कितना वक़्त लगेगा। इतना ही नहीं, उसके बाद भी प्रेमचंद पर जल्दी आँच आनेवाली नहीं है क्योंकि जितने गहरे उतर-कर प्रेमचंद ने सीधे-सादे आम लोगों की कहानी कही है वो एक बहुत मज़बूत, टिकाऊ भूमि है, क्योंकि जैसा हम सभी जानते हैं, आदमी की बुनियादी मानसिकता, उसका असली चेहरा बदलने में हज़ारों साल लग जाते हैं। फिर भी ये कहना शायद ठीक न होगा कि उनकी सभी चीज़ें प्रबुद्ध पाठकों के बीच एक जैसी आकर्षक और स्फूर्ति देनेवाली बनी रहेंगी; यक़ीनन् उनमें कुछ चीज़ें बासी भी पड़ेंगी बल्कि शायद कुछ बासी पड़ भी चलीं लेकिन ऐसी भी तमाम चीज़ें हैं जो आज भी उतनी ही ज़िंदा और उतनी ही ताज़ा हैं जैसी कभी थीं।

अमृतराय साहब ने ये तमाम बातें जो कहीं, हिन्दी कहानी की रोशनी में कहीं जब कि आरिफ़ी का सवाल उर्दू कहानी के संदर्भ में था। कहानी के बारे में बहुत सारे सवाल मेरे दिमाग़ में भी उठे, और मैं जानता हूँ कि अमृतराय साहब अच्छे कहानीकार हैं और मुझे इस बात का भी पता है कि हिन्दी कहानियों में हिन्दुस्तानी समाज की जो झलकियाँ अब भी मिलती हैं, कहानीपन अब भी मिलता है, उर्दू कहा-

नियाँ उससे वंचित हो चुकी हैं। दिल चाहा कि दो-एक बातें और रखूं ताकि कहानी के संबंध में कुछ और सच्ची और साफ़ बातें सामने आयें लेकिन लॉन पर उतरता हुआ अँधेरा और बढ़ती हुई ठंडक को देखते हुए मैं अपनी जानकारी के लिए एक बिलकुल दूसरे ही क़िस्म का सवाल कर बैठा, ताकि हमारी बातचीत आख़िरी मंज़िल की तरफ़ चल पड़े — हम सब जानते हैं कि भारतीय साहित्य में प्रेमचंद का बहुत ऊँचा स्थान है और दूसरे देशों तक भी उनकी कीर्ति फैली। मैं अपने तौर पर ये जानना चाहता हूँ कि विदेशों में उन्हें कहाँ-कहाँ पढ़ा या पढ़ाया जाता है और किस देश में उनकी सबसे अहम हैसियत है ?

— जहाँ तक मुझे पता है, इस वक़्त दुनिया की ढाई तीन सौ यूनीवर्सिटियों में हिन्दी पढ़ायी जाती है और उन सभी जगहों पर उनका ध्यान आधुनिक लेखकों में सबसे पहले प्रेमचंद पर जाता है। उनकी दो-चार कहानियों, एकाध उपन्यास का अनुवाद तो दुनिया की बहुत सारी ज़बानों में हुआ है, जैसे जापानी, चीनी, जर्मन, फ्रांसीसी, अंग्रेज़ी, रूसी, डच, पोलिश, हंगेरियन, चेकोस्लोवाकियन, बल्गेरियन, वियेतनामी, रुमानियन, यूगोस्लाव, इटैलियन वग़ैरह में, लेकिन उनके सबसे ज़्यादा अनुवाद रूसी में हुए हैं। यूनेस्को का एशियन भाषाओं के श्रेष्ठतम साहित्य को प्रकाशित करने का भी एक प्रोग्राम है। उसके अन्तर्गत अभी कुछ बरस पहले तक केवल तीन एशियाई पुस्तकों का प्रकाशन हुआ था जिनमें दो प्रेमचंद की थीं और एक किसी जापानी लेखक की किसी पुस्तक का जिसका नाम मुझे इस वक़्त याद नहीं आ रहा है। प्रेमचंद की जो दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनमें एक है उनकी पचीस कहानियों का संग्रह जिसका नाम है 'द वर्ल्ड ऑफ़ प्रेमचंद' और दूसरी है 'गोदान' का अनुवाद द गिफ़्ट ऑफ़ अ काउ' के नाम से।

— अमृतराय साहब, इसके पहले कि आज की बातचीत ख़त्म हो, मैं आपसे एक बिलकुल निजी क़िस्म का सवाल करना चाहता हूँ। प्रेमचंद बहुत बड़े कथाकार थे। उसको लेकर बहुत-बहुत बहसें की जा चुकी हैं। मैं ये जानना चाहता हूँ कि एक इन्सान की हैसियत

से और फिर एक बाप की हैसियत से आपने उन्हें किस तरह का पाया ? मैं जानता हूँ कि जब उनका देहान्त हुआ तब आपकी उम्र पंद्रह साल से ज़्यादा न थी, लेकिन इस उम्र की याददाश्त बहुत तेज़ होती है इसलिए आप ये बताइए कि एक बाप कि हैसियत से आपने उन्हें कैसा पाया ?

अमृतराय साहब के चेहरे पर एक न जाने कैसी घुलावट या मिठास तैर गयी। वो सर उठाकर ऊपर की तरफ़ देखने लगे गोया वो अपने आप को उस बीते हुए वक़्त में पहुँचाने की कोशिश कर रहे हों जब कि उन्होंने प्रेमचंद को प्रेमचंद की हैसियत से नहीं एक बाप की हैसियत से देखा था। वो कुछ देर इसी तरह सोचते रहे और फिर बड़े मीठे अंदाज़ में बोल पड़े — इस सिलसिले में तो मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मैंने उन्हें बाप की हैसियत से कभी देखा ही नहीं। मैंने तो उन्हें हमेशा एक दोस्त की शकल में देखा। वो मेरे सबसे अच्छे दोस्त थे। उनका स्वभाव ही कुछ ऐसा था, अजब-सी एक घुलावट और नर्मी थी उसमें जो मैंने कम लोगों में देखी है। अधिकार जतलाना तो उन्हें जैसे आता ही न था। मारना तो दूर की बात है, उन्होंने मुझे कभी डाँटा भी नहीं। ये भी याद नहीं आता कि उन्होंने कभी एक बार भी मुझसे ये तक कहा हो कि क्या पूरे वक़्त अपनी गुल्ली-गबाड़ी में ही लगे रहते हो, कभी थोड़ा पढ़ भी लिया करो। हाँ, ये ज़रूर हुआ है, दो-एक बार, कि अगर मुझे कोई ज़रूरी होमवर्क करने में — ज़रूरी यानी कोई बहाना करके जिसे टाला न जा सकता हो ! —'मैं शाम को भी घर पर ही बैठा रह गया हूँ तो उन्होंने मुझे डाँटकर बाहर भेज दिया है कि जाओ खेलो, होमवर्क फिर कर लेना। .. अब आप ही बताइए, ऐसा बाप किस बेटे को अच्छा नहीं लगेगा। इसीलिए तो मैंने कहा कि मैंने उन्हें बाप की शकल में देखा ही नहीं। और इसीलिए उनका संग-साथ बहुत अच्छा लगता था। ख़ासकर साथ बैठकर खाना खाना। तो दिन का खाना तो कच्चा-पक्का कैसा भी जल्दी-जल्दी खाकर स्कूल भागना पड़ता था, बचा बस एक रात का खाना। तो वो मैं कभी अकेले नहीं खाता था, भले सो जाऊँ और मुझे जगाकर खिलाना पड़े क्योंकि

मुंशीजी को अम्माँ की बहुत डाँट-डपट और नसीहत-फ़ज़ीहत के बाद भी खाने में देर हो ही जाती थी। सचमुच वो बड़े अच्छे आदमी थे। बड़ा घरेलूपन था उनके मिज़ाज में, किसी भी तरह की बनावट से मीलों दूर बेइंतहा सादगी और अपनापा।

अमृतराय कुछ डूबने-उभरनेवाली कैफ़ियत में जज़्ब हो गये। शायद उन्हें बहुत सारी चीज़ें याद आ रही थीं और वो उन्हें समेट नहीं पा रहे थे। बहुत सारी बातें, बहुत सारी यादें। पेशानी पर यादों की इन लंबी लकीरों को पढ़कर मैंने फ़ौरन एक बात और रख दी — अमृतराय साहब, मौजूदा साल प्रेमचंद की जन्मशती के उत्सव की शकल में मनाया जा रहा है। आपको कैसा महसूस होता है, क्या ये सारी चीज़ें जो हो रही हैं उनके ज़रिये हम उस महान् कलाकार को उसके योग्य श्रद्धांजलि दे पा रहे हैं?

— अब इसका मैं आपको क्या जवाब दूँ। मैं तो हैरान हूँ कि इतना सब हो कैसे रहा है। जन्मशतियाँ इसके पहले भी हुई हैं, जैसे रवीन्द्रनाथ की, इक़बाल की — बड़े-बड़े दो-चार समारोह हुए और खेल ख़त्म। लेकिन यहाँ तो बात ही दूसरी है। बड़े-बड़े समारोह तो जो होने थे वो अपनी जगह हुए ही, अनगिनत छोटे-छोटे और मझोले क़िस्म के समारोह भी हुए, स्कूलों में, कालेजों में, विश्वविद्यालयों में, क़स्बों में, शहरों में, किन्हीं-किन्हीं गाँवों तक में, और हिन्दुस्तान की शायद हर ज़बान में। कहने का मतलब ये कि इस तरह का जन-समावेश इसके पहले देखा ही नहीं गया। मैं ये तो समझता था कि प्रेमचंद ने बहुत गहरे उतरकर जन-मानस को छुआ है लेकिन जन-साधारण के ऐसे अपूर्व उत्साह की तो मैंने भी कल्पना नहीं की थी।

मैंने देखा कि अमृतराय साहब के चेहरे पर ख़ासी थकन उतर आयी है। बातों का सिलसिला यों तो क़यामत तक चल सकता है लेकिन काफ़ी बातें हो चुकी थीं और मैंने यही मुनासिब समझा कि अब हमें चलना चाहिए। हमने अमृतराय साहब से इजाज़त ली और रुख़सत हो गये।* □

* उर्दू मासिक 'सुहैल' (गया) के प्रेमचंद-अंक में प्रकाशित अली अहमद फ़ातमी और सईद आरिफ़ी द्वारा लिये गये साक्षात्कार का संशोधित रूपान्तर।

डा. छिन्नी स्मरण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय
8592

C59.8300S
ZT 299